श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितः

जलभेदः ।

चतुर्विवरणसमेतः ।

१ श्रीकल्याणरायाणाम् । | ३ श्रीवल्लभानाम् ।
२ श्रीपुरुषोत्तमानाम् । | ४ श्रीबालकृष्णानाम् ।

प्रथमं परिशिष्टम् ।

१ 'पूर्णा भगवदीया' इत्यत्र श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखः ।

द्वितीयं परिशिष्टम् ।

२ 'शेषव्यासे'त्यत्र कस्यचित् स्वतन्त्रलेखः ।

पञ्चपद्यानि ।

द्विविवरणसमेतानि ।

१ श्रीहरिरायाणाम् । २ श्रीपुरुषोत्तमानाम् ।

सेवाफलविवरणत्रयं च ।

श्रीसुदामपुरीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीवल्लभात्मजश्रीजीवनलालचरणसम्पूर्णसाहाय्येन
भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला बी. ए., एल्एल्. बी., वकील
हाइ कोर्ट, सुरतिस्थ धैर्यलाल व्रजदास सांकलीया, बी. ए.,
एल्एल्. बी., वकील हाइ कोर्ट, इत्येताभ्यां संशोध्य
मुम्बापुर्यां 'निर्णयसागर' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृतम् ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४४०. संवत् १९७६.

मूल्यमेकमुद्रिका । Revised Rs. 2/

CATALOGUED

181.48
V24J
9201
28.3.66
Library IIAS, Shimla
S 181.484 4 V 24 J
00009201

SELECT OPI[NIONS]

ON

MR. TELIVALA'S

'ZALA VEDANTA PRIZE ESSAY', (1915).

'Discuss how far Sankarâchârya truly represents the view of the Author of the Brahmasutras.'

A masterly essay, criticism sober, unbiassed and scholarly. Should be carefully studied by all the students of the Brahmasutra.

—Modern Review for September 1918.

This is an able and scholarly dessertation on the well-known subject of the correctness of Sankara's interpretation of the Brahmasutras of Bâdarâyana.

It must however be said to the author's cerdit that he sets out the views of other Bhâshyakâras like Râmânuja, Shrîkantha, Nimbârka, and Bhâskara in various places, and his exposition of the difficulties to which Sankarâchārya is reduced by his desire to get the nirgunavâda out of the Sutras, must be convincing to all except those who are pronounced in their 'nirviseshatvâgraha.'

—Indian Review for November 1918.

It is scholarly and shows marks of deep study and thinking.

—Dr. S. K. Belvalkar, M. A., Ph. D.,
Prof. of Sanskrit, Deccan College, Poona.

I have found it very interesting reading, and you have well developed the points on which you rely as showing the differences between Sankara and Bâdarâyana. The discussion has brought to my mind a question to which I have elsewhere alluded, namely whether it is not better to hold to two apparently contradictory affirmations, leaving spiritual experience to realise rather than to neglect one at the cost of other.

—Sir John Woodroffe, Judge, Calcutta High Court.

I found your exposition very lucid and faithful. There can be no question that Sankara's doctrine is not on all fours with that of Badarayana.

Narmadasankar D. Mehta, B. A.,
Bhau Daji Prizeman.
Sujna Gokulji Zala
Vedanta Prizeman.
Municipality (Ahmedabad).

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
SIMLA

प्रस्तावना ।

श्रीसुदामापुरीस्थ श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीना निःसंकोच द्रव्यसाहाय्यथी बार टीका सहित सेवाफल, छ टीका सहित निरोधलक्षण, अने अष्ट टीका सहित संन्यासनिर्णयनुं प्राकट्य थयुं छे. उक्त त्रण पुस्तकना मुद्रणमां वपरायलुं द्रव्य पुस्तकोनो विक्रय करी पाछु लेवानी आपश्रीनी इच्छा न हती, परन्तु विक्रयमांथी प्राप्त थतां द्रव्यथी अन्य सांप्रदायिकग्रन्थो छपाववा एवी हती. तदिच्छानुसार उक्त त्रण पुस्तकोना वेचाणमांथी उत्पन्न थयला द्रव्यसाहाय्यथी चार टीका सहित जलभेद, तेना बे स्वतंत्र लेख, बे टीका सहित पंचपद्य, तथा नूतन प्राप्त थयली सेवाफलनी त्रण टीकाओ ए सर्वेनुं मुद्रण थाय छे. अर्थात् आ ग्रन्थनुं प्राकट्य पण उपर दर्शाव्या प्रमाणे श्रीजीवनलालजी महाराजश्रीनी संपूर्ण कृपाथी थयुं छे, अने वैष्णवो एतदर्थ एओश्रीना ऋणी छे. आपश्रीनी कृपा हशे अने वैष्णवोनुं सौभाग्य हशे तो चतुर्दश टीका सहित भक्तिवर्धिनीनुं दर्शन पण सत्वर थशे.

१. जलभेद उपर चार टीकाओ प्राप्त थई छे. तेमां प्रथम श्रीकल्याणरायजीनी छे. उक्त टीकानी एक प्रति तो श्रीहरिरायजीना निज श्रीहस्ताक्षरमां लखेली छे. आ टीकाना मुद्रणमां मुख्य आधार तेनो ज लीधो छे. परन्तु अन्य प्रतिओ पण वारंवार मुद्रणमां उपयोगी थई पडी हती. नीचे जणावेली प्रतिओने आधारे आ टीकानुं मुद्रण थयुं छे. १. श्रीहरिरायजीना श्रीहस्ताक्षरनी, २. नटपुरस्थ ब्राह्मण वैष्णव तापीबाईनी, ३. पंडित गट्टूलालाजीनी, ४. श्रीजीवनलालजी महाराजनी, ५. पं. गट्टूलालाजीनी नूतन, ६. पं. गट्टूलालाजीनी प्राचीन, ७. पं. गट्टूलालसंग्रहस्थ मूल श्रीपीतांबरजीनी प्राचीन. आ सप्त पुस्तकोने आधारे आ टीकानुं शोधन करी मुद्रण कर्युं छे. टीकाकार श्रीकल्याणरायजी श्रीगुसांइजीना पौत्र थाय अने श्रीहरिरायजीना पितृचरण थाय. विशेष परिचय एओश्रीनो सेवाफलमां कराव्यो छे.

२. द्वितीय टीका श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजनी छे. एओश्रीनो परिचय सेवाफलादिमां कराव्यो छे. एओश्रीनी टीकानुं मुद्रण नीचे जणावेली प्रतिओना आधारे थयुं छे. १. शास्त्री भाई नारायणनी प्राचीन शुद्ध, २. पं. गट्टूलालाजीनी नूतन, ३. पं. गट्टूलालाजीनी नूतन त्रुटित, ४. पं. गट्टूलालाजीनी प्राचीन शुद्ध, ५. श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीनी नूतन शुद्ध, ६. स्तंभतीर्थस्थ शास्त्री भद्रशंकरनी. प्रायः आ सर्व पुस्तको शुद्ध छे.

३. तृतीय टीका अमे श्रीवल्लभ-श्रीगोकुलनाथजीना नामथी मुद्रित करी छे, परन्तु ए टीका श्रीवल्लभनी छे एम कहेवामां अमारी कल्पना विना अन्य प्रमाण नथी. अमारी कल्पनानो आधार आ छे. आ टीका अमने हरीच्छाथी श्रीनाथद्वारादि अमे गया हता त्यां प्राप्त थई. ए प्रति उपर नाम नथी. मात्र बाजु उपर 'जल. टी. गो.' आटलुं प्रत्येक पत्र उपर लख्युं छे. संवत् १७५८ मां लखेली छे. परंपरा पण छे के श्रीगोकुलनाथजीए जलभेदनी टीका लखी छे. आ टीकानी भाषा तथा आरंभ तथा अन्तना मंगलाचरणना श्लोको श्रीगोकुलनाथजीनी निरोधलक्षण तथा सेवाफलनी टीकाओना सदृश छे. 'अग्नि, शब्दनो अर्थ श्रीकल्याणरायजीए श्रीमद्वल्लभाचार्यजीपरत्वे घटाव्यो, ते संबन्धमां संप्रदायमां महान् ऊहापोह थयो हतो एम श्रीहरिरायजीना 'पूर्णा भगवदीयाः' ए श्लोकना स्वतन्त्र लेखथी मालूम पडे छे. आ टीकामां तेज तात्पर्य रागद्वेषथी मुक्त थई स्वीकार्युं छे. श्रीगोकुलनाथजी निज शिष्य श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीहरिरायजीनुं मत अयुक्त नथी ए दर्शावे छे, छतां 'अग्नि' शब्दनो 'रुद्र' अर्थ करनार टीकाकार प्रति समभाव राखे छे. 'अग्नि'नो अर्थ रुद्र छे एम कथनार टीकाकार जो श्रीद्वारकेशजी-तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीना ज्येष्ठ पुत्र होय तो उपर जणावेलुं अनुमान सर्वथा असंभवित नथी लागतुं.

४. चतुर्थ टीका कोनी कहेवी ए पण संशयग्रस्त छे. अमारी पासे भक्तिवर्धिनीनी एक टीका छे, जेनु मंगलाचरण अने अत्र मुद्रित टीकानुं मंगलाचरण वांचतां उभयनुं ऐककर्तृत्व स्पष्ट स्फुरे छे. उक्त

---

१. रत्यन्तेस्वेदबिन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो निष्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ।
श्रीराधावक्त्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानघूर्णायमानोद्रिक्तः स्नेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिनीनी टीकानी बे प्रति अमारी पासे छे; तेमां एक उपर श्रीबालकृष्णजीकृत टीका एम लखेलुं होवाथी अमे 'श्रीबालकृष्णकृत' आ टीका छे एम कल्प्युं छे. परन्तु तेज पुस्तकनी अन्य प्रति उपर श्रीद्वारकेशकृतटीका एम लखेलुं छे. जो एम ज होय तो आ टीका श्रीद्वारकेशकृत मानवी उचित छे. श्रीद्वारकेशजीनी बालबोधकृष्णाश्रयादि उपर करेली टीकाओनुं दर्शन आपणने थाय छे. श्रीपुरुषोत्तमजी पण आ टीकाकार श्रीद्वारकेशजीना मतनो उपन्यास बालबोधादिमां करे छे. अत्र मुद्रित करेली जलभेदनी तृतीय टीकाना कर्ता–श्रीगोकुलनाथजीने आ टीकाकारनी खबर छे. अग्नि शब्दनो अर्थ रुद्र आज टीकाकार करेछे. आ टीका पण आथी बहु प्राचीन ठरे छे. आ टीकानी एक ज प्रति पंडित गट्टूलालाना संग्रहमांथी प्राप्त थई हती, आ प्रति अनेक स्थले त्रुटित, संदिग्ध अने अशुद्ध हती. बहु प्रयासथी आ टीका अमे शोधी छे, छतां एमां स्खलनो अमे न ज कर्यां होय तो प्रभुकृपा ज समजवी.

५. 'पूर्णा भगवदीयाः' ए श्लोक उपर निजपितृचरण श्रीकल्याणरायजीनी टीका अयुक्त नथी ए दर्शावनानो कांइक रागयुक्त प्रगल्भ श्रीहरिरायजीए अत्र कर्यो छे. आनी त्रण प्रति प्राप्त थई छे. एक पं. गट्टूलालानी, द्वितीय यात्रामांथी, अने तृतीय कचरामांथी. आ परिशिष्ट प्रथम छे.

६. 'पूर्णा भगवदीयाः' उपर कोइनो श्रीश–मठेश श्रीनाथभट्टनो स्वतंत्र लेख छे. आ लेख श्रीबालकृष्णजीनी श्रीमधुराष्टकनी टीकाना पुस्तकने अन्ते लखेलो हतो. आ लेख युक्त वा अयुक्त छे वा आचार्याशय प्रकाश करे छे के नहि ते चर्चामां नहि उतरवा एटलुं तो कहीशुं के ए वाचवामां विनोद छे. आ पुस्तक पं. गट्टूलालानुं छे. आ परिशिष्ट द्वितीय छे.

७. पञ्चपद्यनी टीका प्रथम श्रीहरिरायजीकृत छे. आ टीकानुं मुद्रण त्रण पुस्तकना आधारे कर्युं छे. एक श्रीजीवनलालजी महाराजनुं अने अन्य द्वय पं. गट्टूलालाजीना संग्रहना.

८. पञ्चपद्यनी द्वितीय टीका श्रीपुरुषोत्तमजीकृत छे. आ टीकानुं मुद्रण बे पुस्तकना आधारे थयुं छे. प्रथम पं. गट्टूलालाजीनुं, अने द्वितीय भगवद्धर्मपरायण पं. बलभद्रशर्मानुं.

९. सेवाफलनी अमुद्रित त्रण टीकाओ छे. आ टीकाओ अमने यात्रामां प्राप्त थई छे. प्रत्येकनी एक एक प्रति मळी हती. आ टीकाओना कर्ताओनां नाम अमने अज्ञात छे. आ सर्व टीकाओ प्राचीन छे.

१०. जलभेद ग्रन्थ तैत्तिरीयसंहिताना मन्त्र उपरथी सूचित थयलो छे. एमां जलदृष्टान्तथी वक्ताना गुण–भावनुं निरूपण छे. डॉ. राजेन्द्रलालमित्र कल्पे छे तेम रोगोना जलोपचारनुं निरूपण नथी. पंचपद्यमां श्रोताना गुणभावनुं निरूपण छे.

११. जलभेदनी श्रीकल्याणरायजीनी टीकानी प्रति धीरजलाल काशीनाथ पंड्याए करी हती. श्रीपुरुषोत्तमजीनी टीका तथा 'पूर्णा भगवदीयाः' उपरनो श्रीहरिरायजीनो लेख, तथा पंचपद्यनी बन्ने टीका वहेचरदास मगनलाल शाहे प्रेसमाटे लखी आपी हती. श्रीवल्लभनी टीका शास्त्री कल्याणजीए लखी आपी हती. अने श्रीबालकृष्णकृत टीका तथा 'पूर्णा भगवदीयाः' नो द्वितीय स्वतंत्र लेख शास्त्री भद्रशंकर जयशंकरे लखी आप्यो हतो. आ सर्वेनुं निरपेक्ष साहाय्य स्तुत्य छे. ए सर्वेनो उपकार स्वीकारीए छीए.

पुस्तक संग्रहमां पंडित गट्टूलालाजीनी संस्थानो उपकार सर्वथा अविस्मरणीय छे. तदुपरान्त पं. बलभद्रशर्मा, पं. गोकुलदासजी, शास्त्री भद्रशंकर, नटपुरस्थ वैष्णवतापीबाई ए सर्वेनुं साहाय्य विस्मरणीय नथी.

आश्विन शुक्ल सप्तमी
१९७५.

मूलचन्द्र तेलीवाला.
धैर्यलाल सांकलीया.

कूप्याभ्यः स्वाहा कूल्याभ्यः स्वाहा विकर्याभ्यः स्वाहाऽवट्याभ्यः स्वाहा खन्याभ्यः स्वाहा ह्रद्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा सरस्याभ्यः स्वाहा वैशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहा वर्ष्याभ्यः स्वाहाऽवर्ष्याभ्यः स्वाहा ह्रादुनीभ्यः स्वाहा पृष्वाभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा स्थावराभ्यः स्वाहा नादेयीभ्यः स्वाहा सैन्धवीभ्यः स्वाहा समुद्रियाभ्यः स्वाहा सर्वाभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

जलभेदः ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥
योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।
अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।
गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
उद्धृतोदकवत्सर्वं पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ।

शोधपत्रम् ।

आ संग्रह मुद्रित थई गया पछी श्रीमद्गोस्वामिश्रीअनिरुद्धलालजी महाराजश्रीनी कृपाथी जलभेदनी भावार्थबोधिनी तथा श्रीपुरुषोत्तमजीनी पञ्चपद्यटीका ए बे हस्तलिखित पुस्तको जामनगरस्थ श्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थ संग्रहमांना प्राप्त थया, तदाधारे आ द्वितीय शोधपत्र आवश्यक जणायुं छे.

जलभेदशोधः ।

प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
३८।११	क्रिया	इच्छा
३९।१०	दोष	विषय
३९।२९	निवर्तन	विवर्तन
४०।११	शीतलयुक्त	शीतलकमलयुक्त
४०।२०	कलिलं	पङ्किलं
४३।१०	दहक	दाहक
४४।२	मोहन	मोहेन
४४।१५	असौ भक्त्यर्थ	सायुज्यार्थं
४४।२४	गुणान् न्यून	गुणान् नतु न्यूनाधिक्य
४४।२७	सर्वाभोग्यत्वमित्यधिकं	सुधाविशेषणम् ।
४४।२७	देव	देह
४४।३०	प्रापक	प्राप्यक
४५।९	न कार्यं	कार्यं
४५।१५	रहित	सहित
४५।२०	यदा	सर्वथा यदा
४५।२२	तिरोहित-	मायया तिरोहित
४५।२७	पूर्वोक्ता अमृत	पूर्वोक्तामृत
४५।३१	मल	वाद्य

अन्तिमश्लोकविवरणमेवं वाचनीयम्—गताः जीवानां भगवदंशत्वान्नानात्वं वा प्राप्ताः एतादृशा भगवतो विष्णोर्व्यापकस्य सर्वेषु भावरूपेण प्रकटस्य गुणाः स्वरूपतः एतादृशं स्वरूपमिति फलतश्च एतादृशं फलमिति निरूपिताः नितरां रूपिताः स्वरूपेण प्रकटीकृता इत्यर्थः ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जरेणवो मयि संततम् । कृपयन्तु सदा स्वीयं मत्वा कृष्णप्रबोधकाः ॥ १ ॥
श्रीविट्ठलपदाम्भोजरेणुसंकांक्षिणा मया । विवृतिर्जलभेदस्य कृता भावार्थबोधिनी ॥ २ ॥

पञ्चपद्यशोधः ।

प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४।७	भक्तिहेतु	भक्तिवृद्धिहेतु
५४।१०	भगवत्कीर्तन	भगवत्कृपया कीर्तन
५४।११	संबन्ध	संबन्धि
५४।१५	भावं सम्भवरूपं-	भावसंभवरूप
५४।१८	विदुरमैत्रेयज्ञान	विदुरे मैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य मैत्रेये विदुरभक्तिसंक्रमस्य
५४।२२	तादृशमेव	तादृशामेव
५५।१	अथ	तत्र
५५।१	संबन्ध	संबन्धाद्य
५५।२	ते	तत्
५५।३	दिदृश्यते	दीदृशे
५५।७	तथाहि	तत्र हि
५६।४	पतितपावनादिक	पतितपावनत्वादिकं चानारोपितरूपं

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्ठभावितया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ॥ १ ॥
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनाद्भवो भवः । भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावविहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वादस्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते **नमस्कृत्येति** ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र ल्यप् विसर्गस्य सकारो 'नमस्पुरसोर्गत्यो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वोद्धवादिषु । अहरत्सर्वदुःखानि वन्दितोभीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः **हरिं नमस्कृत्येति** । भगवति नमनातिरिक्तस्य कर्तुमशक्यत्वात् । **वक्ष्य** इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम् । **तद्गुणानां विभेदकानिति** । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां **विभेदकान्** निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो भक्तार्थं सर्वसमत्वादेस्त्यागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानित्यर्थः । **भावान् विंशतिधा भिन्नानिति** । **भाव**शब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्जन्याश्चावस्थाविशेषा भावा उच्यन्ते । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिभिः स्नेहाभिधानात् । गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान् । **सर्वसन्देहवारकानिति** । विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्निवारकान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्त्स्यन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः **गुणेति** ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्त-

जलभेददृष्टान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वालौकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्वनितानि । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्गोविन्दस्य गायकानां भावमाहुः **गायका** इति । **गन्धर्वा** इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं जाड्यकाले कोष्णत्वाज्जाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवह्रियमाणं वर्धते, समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिवर्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गानद्वारैवैतेषां भावो ग्राह्यः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः **कूपभेदास्त्विति** ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षारजलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका अपि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणावतारांशादिलीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्वर्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव च । संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः । विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः । मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृतम् । अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि । अत एव स्वभावभूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसामभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्कल्पभेदाद्भक्तिभेद इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयः प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नवनव भेदा इति सगुणा भक्तिरेकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा त्वेकविधैवेति द्व्यशीतिप्रकारा भक्तिः प्रथतेतराम् । तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवती'ति । द्वितीयं भावमाहुः **कुल्याः पौराणिका** इति । **कुल्या** अल्पा कृत्रिमा सरित् । पुराणमधीयते विदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाल्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा भूमौ कुल्या जलाशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्बद्धास्तथा एतेपि भुवि पुराणार्थप्राप्तौ पारम्पर्ययुताः सद्गुरूपदेशादवगतपुराणार्थाः । सद्गुरूपदेशं विना

श्रीभागवतविष्णुपुराणादौ भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् । यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति; नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

तृतीयं भावमाहुः **क्षेत्रप्रविष्टा** इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशाद्देहकुटुम्बयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति । अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति । श्रीभागवते चोक्तम् । 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ॥ त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभभवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य'इति । चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादिसहिता** इति । आदिपदात् कुलटातत्संगिद्यूतादय उच्यन्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यदि विषयैर्बाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः **मत्ता** इति । अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः । नह्येते प्रीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति, किन्तूत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो नैषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग इत्यर्थः । अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

पञ्चमं भावमाहुः **जलार्थमेवेति** । प्रक्षालनोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तत्तुल्या नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन बाह्योत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावादुच्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवैषां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेषां भावो न सद्भिर्ग्राह्य इत्यर्थः । यद्वा । जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्यद्गायकनिरूपणं तदेतादृशानां पौराणिकानामेतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम् । षष्ठं भावमाहुः **ह्रदास्त्विवति** । तुशब्दः पण्डितप्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्पराः । न तु मायावादादिमते । एतादृशाः पण्डिता ह्रदतुल्यास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा ह्रदजलमन्तःशी-

तलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यमेवमेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्य इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

सप्तमं भावमाहुः **सन्देहे**ति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गम्भीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशह्रदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते । अष्टमं भावमाहुः **सरःकमलसम्पूर्णा** इति । भगवच्छास्त्रे संदेहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसंबन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एतत्तुल्यभावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः कमलसौरभभृङ्गसारसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

नवमं भावमाहुः **अल्पे**ति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः **कर्मशुद्धा** इति । कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अल्पा श्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेपि तथा, पल्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनान्नेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्तावधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्वादैस्तेषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मना भवे'त्यादिप्रमाणानामज्ञानादित्यर्थः । वेशन्तपल्वलयोर्लोके पर्यायत्वेपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तयोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरभादितदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

एकादशभावमाहुः **योगध्यानादी**ति । योगोष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशमात्रादेः,

आदिपदाद् बाह्यपदार्थास्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः । वृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादिसमय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्यग्योगो निरूपित इति भावः । द्वादशं भावमाहुः **तपोज्ञानादिभावेनेति** । तपः पञ्चाग्निसहनादि, ज्ञानं जीवात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्तेनोपलक्षिताः स्वेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः स्वेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजनमिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादेर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । 'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धय' इति वाक्ये केवलात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च । केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारस्याधिकारिविशेषणत्वादाराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव । 'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमान' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्वैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः पर' इति भगवतोद्धवं प्रत्याचारभक्त्योर्भेदेन निरूपणात् । द्विजपत्न्यनुग्रहे द्विजैर्भगवद्वैमुख्ये त्रिवृद्विद्यादीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्वैमुख्योक्तेश्च । अत एव 'परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते । नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्णवर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यत' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभिधाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरोधात् । यथा स्वेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेनेति** । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुः-

स्वहर्तुर्गुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित)धाराजलानां ज्ञापकास्तथोच्यमाना भगवद्गुणा अपि वक्तॄणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मल्यशैत्यमाधुर्याविच्छेदयोगाद्दर्शनस्पर्शनस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः **देवा** इति । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः । पितैवास्माकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुभजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अथ च देवाः शिवादयः आदिपदाद् यक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवादीनामुपासनमुद्भूतमुद्गतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह वोद्भूता भगवद्भावास्ते च भूमेरुद्गताः पृष्वा इव । 'अवश्या यजन्याः पृष्वा' इति वेदभाष्ये । पृष्वा जलबिन्दवस्तुषारकणाः जलबुद्बुदा वा त इवेत्यर्थः । तेषां भ्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वभजनाच्च । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिभक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वाद्भिन्नरूपमेव । अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका । तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् । सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः । न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । किरातहूणान्ध्रे'त्यादि । पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतायां 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलाभाववदत्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('यान्ति मद्याजिनोपि माम् । देवान् देवयजो यान्ती'तिवाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहतीति पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नतु केनापि प्रकारेणान्यभजनमित्यत्र विध्यभावात् फलाभावो युक्त इति भावः ।) यथा बिन्दवस्तुषारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धितृष्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः **साधनादिप्रकारेणे**ति । साधनमादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो

१. ( ) एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते ।

नटवेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । भक्तिमार्गे मर्यादया भगवदङ्गीकारादकामोपहतैरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यथा पर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रस्रवणजलं वर्धते तदभावे ह्रसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः । इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्व'मिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते' इत्यादिभिर्निरूपितम् । नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तम'मिति प्रह्लादैर्निरूपिता ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षोडशं भावमाहुः **यादृशा** इति । यादृशाः पूर्वमव्यवधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिकविशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यभावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रेमस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्गच्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥ ११½ ॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः **अनेकजन्मेति** । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तपो-

ध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तज्जन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्गः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुष्टसङ्गादयश्च तेषां यौ गुणदोषौ ताभ्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः। एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽसमुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इत्यर्थः। यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृष्ट्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥ १३ ॥

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा** इति । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतन्त्राः निरुपाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रगामिन्यो महानद्यस्तज्जलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्यादिहेतवोपि भवन्तीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः **पूर्णा भगवदीया** इति । ये भगवदीयाः भक्त्या सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' येषामात्मादिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्माद्यर्थे भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छेपार्थे छप्राप्तौ 'बहुलं छन्दसी'ति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्यादिवल्लोके ज्ञेयः। तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति **शेषव्यासाग्निमारुता** इति । **जडनारदमैत्राद्या** इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'अनन्तश्चास्मि नागाना'मिति वाक्यात् । व्यासः कलावतारः सदा भगवद्धर्मनिरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्धर्मनिरूपणेनात्मप्रसादः। अग्निर्भगवदास्यरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव। मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः। जडो जडभरतो योन्तःपूर्णभावाद्बहिर्जड इव प्रतीयते। नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः। मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदादुद्धवादयः । समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादब्धिरुत्तुङ्गतरलिततरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेपि प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव भावः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति ॥ १४½ ॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान्निरूपयन्ति **लोकवेदगुणै**रिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं न वा तृप्तिसुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः । एके 'तूद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारादेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तैव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधिमण्डस्यासारत्वान्न पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्यापीति भावः । मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्यापीति भावः । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वादु मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः । भगवान् महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपीति भावः । 'तं यथा यथोपासत' इतिश्रुतेः 'भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्विक्षुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्तथायं भावोपीति भावः । 'यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिनैर्मल्यतृप्त्यादिहेतुस्तथायं भावोपीति । भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः । भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तूयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्वैराग्यस्य भिन्नरूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥ १५½ ॥

पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति **गुणातीततयेति** ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये भगवदीयाः 'तमु स्तोतारः' 'यस्मात्क्षरमतीतोहम्' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिनान्येषां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणान्नवनीतादिचौर्यगोचारण-वेणुवादनगोवर्धनोद्धरणादीनपि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासंबन्धरहितान्नित्यान्सच्चिदानन्द-रूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां वचना-मृतस्य पानमन्तर्निवेशनं तत उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह श्रुतिः 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते त्वत्संबन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भ-गवद्भक्तमित्यर्थः । अत एव तत्त्वसागरेप्युक्तं 'दुर्लभे सद्गुरूणां तु स्यात्तत्सङ्ग उप-स्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महानि'ति । अत एव नित्यानन्दमयपुरुषो-त्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा'नवजानन्ति मां मूढा' इत्यारभ्य 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता' इत्यन्तेन । नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन । तद्वाचो महिमानमाहुः **तादृशाना**मिति । पूर्णभगवदीयानां वाक्यं क्वचित् यत्र प्रसन्नतया स्वेच्छया वदन्ति, नत्वनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देशहराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रभू-त्कर्षवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समा-गमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतस-त्समागमः । सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः । महद्विचलनं नृणा'-मित्यादि । अत एवैतद्वचनामृतबिन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वाप्यजामिलाकर्णनवत् । अजामिलस्य यदाकर्णनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्नरकसम्बन्धो भगवद्धर्माचरणेनोत्कृष्ट-फलप्राप्तिस्तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपीति भावः । यद्वा । अजामिलस्याकर्णनं यस्मिन् तदजामि-लोपाख्यानं तेन यथा भगवद्रूपनामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्बिन्दुपानेनापि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहूणान्ध्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्बिन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोऽधिक इति तत्परिचायकमाहुः **रागाज्ञानादिभावानामिति** । रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः । यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति । इदमेव बिन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्स्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दस्योद्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस्य तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापञ्चिकास्फूर्तौ न किञ्चिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तथोक्तं भक्तिवर्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' ॥ १६–१९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

विंशं भावमाहुः **उद्धृतोदकवदिति** । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाशयात् पृथक् स्थितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फलमपि तथा तदनुरूपमेवेत्यर्थः । यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विदधते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । सुधा तु सदैकरूपमेव गुणं विधत्त इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहरन्ति **इतीति** । इतीति समाप्तौ । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद्वा । रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । **फलत**

इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥

श्रीविट्ठलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ।
ताताङ्घ्रिपद्मे च गुरून् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदनाम्नः ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ । भावपूर्णा मुदे भूयात्सुन्दरीवाल्पभाषिणी ॥३॥

मृषोद्यमनवद्यं वा बालस्येव कृपालवः । क्षमन्तां विट्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥ ४ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।
गुणस्वभावबोधार्थी या वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थबलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सङ्गे स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकांक्षायां यद्येकादशस्कन्धे 'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसानु कौ, तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तेः संसारात्मकतमस्तारकत्वेन कथनात्तस्याश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां क्वचित् दृश्यमाणानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्, 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराच्च, यस्य कस्यापि सङ्गः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्तौ, 'अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हण' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्तत्वस्त्रीपरिवृतत्वपुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः । किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य भ-

गवद्रत्यादिकथनं, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणाद्यर्थं सत्सङ्गस्यैव कथनं च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयितृणां भिक्षाशामात्रेण कथं निन्द्यत्वं, गुणगातुरुपबर्हणस्य च कथं विश्वसृग्भ्यः शापः । किञ्चैवं भावभेदेन नामाद्युच्चारयितृणां गुणगातृप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथं द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयानां जाते तद्वारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्येव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलतः स्वरूपतश्च नानाप्रकारतां वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपणं प्रतिजानते **नमस्कृत्येति** ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'हराम्यघं यत्स्मर्तृणा'मिति[1] भारतवाक्यात्स्मरतामघहर्तारं भगवन्तं **नमस्कृत्य, तद्गुणानां** तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्तस्य हरेः गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणां **विभेदकान्** विशब्दो नानार्थः नानाभेदजनकान् विंशतिप्रकारेण **भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान्** गुणस्वरूपफलविषयकाः सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशाः सन्देहास्तेषां निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् वक्ष्ये कथयिष्यामि । अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थः । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शंक्यम्, उपसंहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवी'त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥ १ ॥

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्त्यात्कथं विंशतिधाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इत्याकांक्षायां बोधसौकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्वं बोधयन्त्यर्धेन **गुणभेदा** इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ॥ १½ ॥

तुः शङ्कानिरासे, उक्तसंख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतोः **गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः** यत्संख्याकाः जले मताः श्रुतिसंमताः । तथा चाधारानन्त्येपि यथा जलस्य विंशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जलं हि शैत्यगुणकं स्वच्छं अव्यक्तमधुररसं सर्वशोधकं स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य भूयस्त्वापादकमाप्यायकं च स्वभावतः सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभावं लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावत एकविधा आनन्दरूपाः ब्रह्मणः सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्नाभिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्तामनेकगुणदोषवत्तां चापद्यन्त इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैवं बोधार्थमङ्गी-

१ हराम्यघं यत्स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहं । वर्णश्च मे हरिच्छ्रेष्ठस्तस्मादहं हरिः स्मृतः ।

कारादित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे 'कूप्याभ्यः स्वाहा, कूल्याभ्यः स्वाहा, विकर्य्याभ्यः स्वाहा, अवद्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, हृद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, पृश्न्याभ्यः स्वाहा, स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्थावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मन्त्रेषु विंशतिविधा आप अपां होमे उक्ताः ॥ १½ ॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः **गायका** इत्यादि ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः **कूपसंकाशाः** कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा व्रजे गोपकूपः, 'सोमवत्याममायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेपि न साधारणाः, किन्तु **गन्धर्वा** इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । **तु** पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे भवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गीयमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनुरूपमेव फलं जनयन्ति । एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापाभावः 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणगाने सुखावाप्ति'रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणगातॄणां स्वरूपफलोत्कर्षौ यावुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दिति श्लोकोक्तरीतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पूर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥ २½ ॥

कूल्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावमाहुः **कुल्या** इत्यादि ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

श्रुतौ कूल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । **पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः** 'कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरि'दिति कोशात् महतो जलाशयात् अन्यत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या । पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः प्रोक्ताः । अत्रोपमावाचकपदाभावाद्रूपकं ज्ञेयम् । 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणात्तत्रापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरनुक्तत्वादनुभयोक्तिरूपकं ज्ञेयम् । केषाञ्चिदलङ्काराणां किञ्चित्प्रयोजनार्थं शास्त्रेऽङ्गीकारस्यानुमानिकसूत्रे तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमग्रेपि बोध्यम् । पौराणिकानां कुल्यातौल्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः **पारंपर्ययुता भुवीति** । तथा

च भूमिष्ठत्वात्परंपरया मूलसम्बन्धाच्च ते कुल्यातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कुल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः प्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पाद्मे माघमाहात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये । पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिबोधकाः । वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती धृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्बिषाः । गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवं । अपि देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारक'मिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र भुवीतिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापातादिति ॥ ३ ॥

अतः परं 'विकर्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशात् 'बलेः क्षेत्रे महीभुज' इति 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपत्न्यावप्युच्येते । एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्द्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उप्तस्य बीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममतात्मकस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । अतस्तेषां भावो विकर्यातुल्यः । कृ विक्षेपे, ऋदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्याः, ता यथा क्षेत्रिभिः स्वान्नसिद्ध्यर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भ्रात्रा अपीति । तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसून् देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति । तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'भिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु तत्त्वविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटितृवन्न दोष इति बोध्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्ययुतत्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रोत्रोरुभयोरपि संसार एव । स्वबुद्ध्यान्यथाव्याख्यानान्यथाबोधयोः संभवाच्चेति ज्ञेयम् । ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम् । कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिते'ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, 'मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः । तत्र

शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् । श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनकसमीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्न' 'एवं ता'निति गोर्थं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी'ति पृष्टे याज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अब्रवी'न्म उदङ्कः शौल्वायन' इत्यादिना प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति श्रावितत्वेन ब्रह्मविद्योपदेशोत्तरं शिष्योपढौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तन्न्यायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च । किञ्च, गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावादिति । एवञ्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं 'विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोभादविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभाग्भवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसरामः । तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गस्तत्स्वरूपं विचार्य कार्य इति बोधितम् ॥ ३½ ॥

अतः परं 'अवद्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादी**त्यादि ।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्ग्रहः । ईदृशाः गायकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायनस्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विद्यते । न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परिकीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दवहा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'नद्या यच्च परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं बहुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः । यद्वा, 'प्रह्लादो ह वै कायाधवः विरोचनꣳस्वपुत्रमुदास्यत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति श्रुतावापस्तम्बस्मृतौ च न वर्षधारास्वाचामेत्तथा च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननिषेधात् । तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सायणीयादौ व्याख्यानात्तेषामापोऽवद्याः, न उद्यन्त इत्यवद्याः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दातः ता अपि निन्द्या इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गीता गुणा न समीचीनफलदाः गातॄणां श्रोतॄणां चेति तादृशां सङ्गो न कर्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

अतःपरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चमं भावं वक्तुमन्यानपि ततो हीनानाहुः **जलार्थ**मित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूषादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसाराभावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः । तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जात्या नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभरयस्ते यथा तथा तेषां भावोपीति तद्गता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः । श्रुतौ 'अवद्याभ्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्ग्रहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् । तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्राणीति यावत् । नीचा गानोपजीविनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्रजलं पुनः खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं, तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्यन्तीति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति बोधितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४३॥

अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं 'ह्रद्याभ्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं षष्ठं भावमाहुः ह्रदास्त्वित्यादि ।

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वाभीष्टार्थग्राहिका च तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिषूक्ताः । शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषमाहुः **भगवच्छास्त्रतत्परा** इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते ह्रदाः । 'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रद' इति कोशात् महान् जलाशयो ह्रदः, परं नद्येकदेशभूतो नदीसंलग्नः । 'कालिन्द्यां कालीयस्यासीत् ह्रद' इति 'शुष्यद्ध्रदाः कृशतटा बत सिन्धुपत्न्य' इत्यादौ तादृशेष्वेव ह्रदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा अपि ह्रद्यजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्यमाणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तमाघमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । सूद्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावमाहुः **सन्देहे**त्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोतॄणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वार-

यन्ति, ते **सूदाः**, सुष्ठु समीचीनं स्वादु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते **सूदाः** । तत्र हेतुमाहुः **गंभीरमानसा** इति । अगाधं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं बुद्ध्वा तदधिकारानुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन यादृशं जलमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः । अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्या'दिति वाक्यं 'गच्छन्ति ब्रह्मणो लोक'मिति तत्फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम् । श्रीकल्याणरायास्तु 'सूदा इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्त' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं सन्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतृणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति । अतः परं 'सरस्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसारेण तत उत्कृष्टं पुष्ट्यनुसृतमष्टमं भावमाहुः **सर** इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् बुधाः भगवच्छास्त्रतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसंपूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः सम्पूर्णा सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रलाभादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कुत उक्तिरिति शंक्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरूह'मिति कमलनामस्मारणेन तत्संबन्धार्थमेव तत्प्रयोगात् । अन्यथा ह्रद्यासूद्याभ्यां विशेषाभावात्तदनुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्त्वात्र यदाप एव दृष्टान्तत्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यभ्रमरझंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतृषु ज्ञानभक्ती संक्रामयन् तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्यत इति तद्गता गुणास्तथेत्यर्थः । अत एवैकादशस्कन्धे संवादसमाप्तौ भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलं, तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मने'ति । अतःपरं 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो न्यूनं नवमं भावमाहुः **अल्पश्रुता** इत्यादि । अल्पं श्रुतमध्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवाक्यसम्बन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वेशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः । 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरे' इति कोशात् । 'विश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय' इति निरुक्तेश्च । अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहाराद्भक्तावपि स्वल्पत्वं सूच्यते । तेन 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तत्तुल्यस्तेषां भाव इति बोधितम् । तथा च प्रेमवत्त्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेप्यल्पत्वाद्यथा तज्जलं महिषादिभिरवगाढं कलुषं भवति, तथा तद्भावोपि श्रुतप्रेम्णोरल्पत्वाद्विजातीयशास्त्रादिसंसर्गेण कलुषितो भवतीति तत्सङ्गोऽप्रयोजक इवेत्यर्थः । अतः परं 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसृतं वेशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः **कर्मे**त्यादि । श्रुतं च भक्तिश्च श्रुतभक्ती, तथा पूर्वोक्तवदल्पे श्रुतभक्ती येषां ते तथाल्पश्रुतभक्तयः । पूर्वोक्ताद्विशेषः **कर्मशुद्धा** इति । भगवदर्पितेन फलासङ्गरहितेन कर्मनिर्हारोद्देशतो वा कृतेन कर्मणा शुद्धाः तदनुरूपचित्तशुद्धियुक्ताः पल्वलानि । वेशन्तपल्व-

लयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति निर्देशभेदात् पलगतौ पलति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाच्च तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिक्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव । तथा च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तत्सङ्गोप्यप्रयोजक इवेत्यर्थः । एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोतृणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्तस्याश्च बहिरिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्न निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्तो 'वर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावमाहुः **योगे**त्यादि ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'गृहात्प्रव्रजितो धीर' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणावानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः । आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसाधकत्वोक्तेः । ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । यथा 'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ती'त्यादिषूक्तं, आदिपदेन धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपलीलादयश्च । कपिलदेवैः 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशय'मिति ध्यानविषये लीलानामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः ·वृष्टिर्वर्षस्तत्सम्बन्धिन्य आपो वर्ष्याः, ता यथा दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः । यद्यपि वृष्टिजलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सोंशो नात्र दृष्टान्तफलतयाभिप्रेतः । तेषां योगित्वादन्तर्निष्ठत्वेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, कुयोगित्वापातेन विदूरकाष्ठत्वापाताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्ग्रहणाच्च । दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधापत्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं ग्राह्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वादत्र तत्प्रसङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥ ७½ ॥

अतःपर 'मवर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव द्वादशं भावमाहुः **तप** इत्यादि।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तापे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रचान्द्रायणानशनादिरूपं तत्तपः, ज्ञानं सेश्वरसांख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन वि-

द्यमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः । अत्र योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेशभूतं संयुक्तं पदमनुषज्जते । तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, 'ष्विदा गात्रप्रक्षरणे,' घर्मश्रमादिना सन्तप्ताद्गात्रात्प्रसृतं यज्जलं सः स्वेदस्तस्माज्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि विन्दुरूपत्वाद्वर्ष्यतुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तत्तुल्याः । ता यथा न समीचीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अपीत्यर्थः । तेन तादृशामपि सङ्गो न प्रकृतोपयोगी । तपआदिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन गुणानां गौणत्वात्कचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् ।

सायणीये तु वर्ष्यैनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं रोचते । पर्युदासस्य सदृग्ग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सदृशत्वाभावात् । अतस्तदर्थं तत्र स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यादिति ॥ ८ ॥

अतःपरं 'ह्रादुनीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितृनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेने**त्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा अलौकिकार्थप्रकाशकत्वाल्लोकविलक्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भानात्तेनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारेणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतॄणां कस्मिंश्चित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आप्तवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पत्ऌ गतौ,' पतन् सर्वतो गच्छन् शब्दो ह्रादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहस्या ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितृभ्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्तादृशाधिकारसम्पत्तौ तादृशां कीर्तयितॄणां सङ्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥ ९ ॥

अतः परं 'पृष्वाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जघन्यं भावमाहुः **देवे**त्यादि ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।

देवाः श्रौताः पौराणिकाश्च शिवाग्निदुर्गागणपतिप्रभृतय **आदि**शब्देनान्ये पितृमात्रादयस्तेषा**मुपासनं** स्वरूपचिन्तनं सेवनं वा तेनो**द्भूता** उपासके उद्गताः स्वयमन्यैश्चानुभूयमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानबलसामर्थ्यादयस्ते पृष्वाः अवश्यायजन्या आपः पृष्वा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तत्तुल्याः । ता यथा पाषाणभूमौ पतिताः, तत उद्गता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेऽपि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भव'मिति गीतावाक्योक्त-

न्यायात् । परन्तु तानुपासकाः स्वीयत्वेन देवीयत्वादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उत्सिच्यन्ते साहंकारा भवन्तीति यावत् । अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोधायकत्वेनोक्तत्वादिति तेषूत्कर्षबुद्धिस्तादृशां सङ्गश्च न कार्य इत्यर्थः ।

अतःपरं 'स्यन्दमानाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावमाहुः **साधनेत्यादि** ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपस्तेन **प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः** । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः । स्यन्दू प्रस्रवणे, प्रस्रवणरूपा या आपस्तादृशाः । ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ताः स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, सर्वानुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतॄन् द्रष्टॄंश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति तादृशां सङ्गः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतःपरं 'स्थावराभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहुः **यादृशा** इत्यादि ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः साधनादीत्यारभ्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तत्प्रकारकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्थावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः । ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च । नतु स्वत उद्यम्यान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति । तेन तादृशां सङ्गस्तावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थः । अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिस्वरूपस्याज्ञानान्मार्यादिकेषूत्कृष्टबुद्धेरिति ॥ ११½ ॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः **अनेके**त्यादि ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सङ्गातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताभ्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विद्यमानता वा तस्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभावैर्वृद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्तेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः । तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिद्दुष्टाः, यथा गङ्गादयः, कर्मनाशादयश्च, काश्चन कालतः, यथा 'कलौ वेत्रवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगादपि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन गंगा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपीति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तमफलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा** इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः संग्रहः । स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तद्यथा दृष्टं स्पृष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृहादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्गता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥ १३½ ॥

अतःपरं 'समुद्रियाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूनविंशं भावमाहुः **पूर्णा** इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियाभक्तिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीयशब्दो अव्युत्पन्नो वैडूर्यादिशब्दवद्रूढो 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति शेषेत्यादि । शेषः संकर्षणः सनत्कुमारोपदेष्टा । व्यासो भगवान् बादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समाधौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तवान्, शुकं च पाठित-

वान्। अग्निरग्निपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रहूगणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनबर्हिर्गुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिसङ्ग्रहः। ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरभूतं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां संगः सेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्येत्यर्थः ॥१४½॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कूपभेदास्त्वि'त्यर्धेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदान् द्वाभ्यामाहुः **लोकेत्यादि** ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।
गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्यभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान् । 'स्वयंभुवे नमस्कृत्ये'-त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् 'ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वायुर्वायवीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान् । न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शंक्यः । तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात् । न वा वायोः । हनुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णने गुणाभिमानिवर्णनमिति शंक्यम् । तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालभयस्यानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तत्रोच्यन्ते, न जीवाः । एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणैरुपलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्तारः षष्ठा भविष्यन्तीति तैः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भावस्तत्तज्जलतुल्योवगन्तव्यः । तज्जलं यथा क्षाराम्लमादनाव्यक्तमधुरस्नेहव्यक्तमधुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्तदनुरूपफलदा इति तत्संगोपि तथेत्यर्थः । न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शंक्यम् । 'यदादित्यगतं तेज' इति न्यायेन तेषामपि भागवतत्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतेरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निबन्धे 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदित' इति स्थितमिति न काचिच्छङ्का । एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः **गुणातीततये**त्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सच्चिदानन्दरूपिणः सच्चिदान-

न्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशनं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः । अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामामृतांभोधिर्ण्यनामामृतसागर' इति वाराहपुराणोपबृंहितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ। किञ्च, 'कूप्याभ्य' इत्यादिश्रुतौ 'सर्वाभ्यः स्वाहे'ति समासावुक्तम् । तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नद्यः प्रसन्नसलिला' इत्यस्य सुबोधिन्या 'मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा' इत्युक्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्तात्र ग्राह्याः, नेतर इति शंक्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषव्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षापत्तेः । अतस्तत्राद्यशब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन षड् ग्राह्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेष्वेव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥ १५–१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलभ्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः **तादृशाना**मित्यादि ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामपि क्वचिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधादिना भगवद्वियुक्ते पुरुषे भगवतस्तदुद्धारोद्दिधीर्षायां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः **दूतानामिव वर्णित**मिति । यथा षष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूत्तथेदानीमपि भगवदुद्दिधीर्षाविषयस्य भवतीति नालभ्यम्, किन्तु सुदुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रोतॄणामुद्दिधीर्षाविशेषविषयत्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः **अजामिले**त्यादि । अजामिलेन यथा यमदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलबिन्दोर्यथा पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीषत्सुखदं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्यमानं तदुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयेत्तदा तद्बिन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सांसारिकग्लानिजनकं पश्चाज्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिफलकं चेत्यर्थः । यदा त्वेतदुद्देशेनैव

---

१ वाल्मीकिशिवपराशरमन्वादयः ।

भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलदमिति तत्स्वरूपमाहुः **रागे**त्यादि ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशनं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवतीति शेषः[1] । तदा तद्वाक्यपानं तत्कालमेव स्वगुणं जनयलेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादने, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । **स्वानन्दोद्गमकारण**मिति । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्गम उच्चैः प्राकट्यं तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपमित्यर्थः । एवमपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्वन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

अतः परं सायणीये 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थ उक्त इति तमनुसृत्य पूर्वेभ्योतिरिक्तं विंशं भावमाहुः **उद्धृते**त्यादि ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं वापि तथा ततः ॥ २० ॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् कूपतडागादिभ्यः पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशभाण्डस्थं तदनुरोधेन शुद्ध्यशुद्धिमच्च भवति । क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्ध्यशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैयधिकरण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदार्द्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिद्दोषं च विधत्ते । तथा तेषां वाक्यानि आधारमार्द्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकराणि । वेत्यनादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकारपाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगवद्गुणस्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण **भुवि** भूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः, इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तत्र स्थित्वैव

---

१ रागनिवृत्तिः प्राचीनबर्हिषः जाता । यथा चाज्ञाननिवृत्तिः रहूगणस्य जाता । यथा च आदिशब्देन द्वेषस्तन्निवृत्तिः विदुरस्य जाता । एवमन्यत्र ।

रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येप्याधारभेदेन तल्लिङ्गास्तदनुरूपफलाश्च भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्गो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः । अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततया प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तद्वाक्यभावार्थाधिगतिर्मम ॥ १ ॥
नानामार्गेषु विविधभावैस्ते तेऽधिकारिणः । प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः ॥ २ ॥
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणां तत्स्वरूपतः । फलतश्च निजाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः । विवेकं चक्रिरे तत्तद्भावार्थो हि प्रकाश्यते ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दित्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा । पशुस्त्री च' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविषयिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षूणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपःकर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विषयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'हरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोरेकरूपत्वं वा नानात्वमिति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिजानते—

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये । भावास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एवोक्ता इत्युपक्रमेपि त एव ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्यथा भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात् । आधारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः **तद्गुणानां विभेदकानिति** । भगवद्गुणानां

१ श्रीवल्लभकृतेयं टीकेति विषये उपोद्घातो द्रष्टव्यः ।

स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः । अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं भावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाणमाहुः **विंशतिधा भिन्नानिति** । तत्रापि द्वैविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः, ते एवाग्रे अमृतोददृष्टान्तेन वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कूप्याभ्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः **सर्वसन्देहवारकानिति** । एतदर्थमेव वेदेप्युक्ताः ॥ १ ॥

ननु कूपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः—

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

नह्यत्र कूपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तत्स्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिकारित्वाद्विषयिणां भावमाहुः **गायका** इति । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्यशः प्रबन्धरागतानाद्यालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्धर्मस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसङ्काशाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कूप उक्तो, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कूपो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्तलं, तेनेतरविषयप्रयत्नत्यागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्प्राप्तं भवेत्, तथा तेषां भगवद्यशोगानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नत्यागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भवेदपीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्भेदानाहुः—

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवाग्रे 'वेश्यादिसहिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति **कुल्या** इति । यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रायं भावः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वक्तृश्रोतृसद्भावे पुराणाकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते । वृत्त्युपजीविनामग्रे निन्दितत्वाच्च । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वाद्गायकानां

मध्ये सामान्यतः पौराणिकानपि निरूपयन्ति **कुल्या** इति । तेषां पुराणादिकथनं तु परंपराप्राप्तम्, न तु कञ्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्याः अल्पाः कृत्रिमाः सरितः प्रवहणशीलास्तत्तुल्या इत्यर्थः । यद्यपि ता अपि पारंपर्ययुताः, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं स्वल्पाः कृत्रिमाः, न तु सहजाः । तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचितम् । तथा तेऽपि यतः पुराणार्थोवगतः स गुरुर्महान्, परन्तु स्वयं स्वल्पपात्ररूपाः । साहजिकभगवद्धर्मप्रवृत्तिरहिताः । संसारस्थिताः । उपरोधे रुद्धाः अपि भवन्ति तादृशाः । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद्दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं धर्मोपदेशका इति गायकसकाशादेतावान् विशेषः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥ ३ ॥

तादृशा अपि केवलं वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठकाः, तदा ततोपि हीनत्वमाहुः—

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टाः 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा संसारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुल्यासंबन्धिन्य आपः क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा संसारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन रतेः पोषकवस्तूत्पादकत्वादविद्याधर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छोधकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा तेपि सांसारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोषणमात्रोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणादियुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारकाः स्वात्मशोधका वा भवन्ति । तादृशश्रवणपाठात् शक्तिह्रासे पुराणार्थाः फलदा न भवन्तीति भावः । एतेन तेषां तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपितः ॥ ३½ ॥

एवं भेदद्वयमुक्तमतः परं गायकभेदानाहुः—

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्ता गायकाः भृतकधर्मरहिताः । तेषामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भृतकधर्मराहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशाः पुनर्वेश्यादिसहिताः, आदिपदेनान्येपि विधर्माः पानादयः सूचिताः । अत एव मत्ताः, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्याः । गर्तोत्र जलरहितान्धकूपः । स यथाधस्तलपर्यन्तगतः दुष्टजीवकङ्कालादिस्थानभूतोन्येषां पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वयं त्वधोगताः एवान्येषामपि पातहेतवो भवन्तीति भावः ॥ ४ ॥

एवं चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भावमाहुः—

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि बहुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भृतकाध्यापनवत् गन्धर्वास्तत्तुल्याः । यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माद्युपयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च । तथा तेषामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन विशिष्टो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेन्निषिद्धत्वात्तस्येति भावः । एवं गन्धर्वाणां त्रयो भेदा उक्ताः ॥ ४½ ॥

एवं विषयिणां भावानुक्त्वा मुमुक्षूणां भावान्निरूपयन्तः षष्ठं भावमाहुः—

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

ह्रदास्त्विति । पूर्वे तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवेकिनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंसक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः । अत एव मोक्षेच्छया भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः । तादृशास्ते ह्रदा ह्रदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो ह्रद उक्तो, न तु कश्चन विशेषः । तेन ह्रदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेपि प्रवाहधर्मान्निवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासैवास्ति, न तु निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोग्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः—

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।
सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, बहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते, तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा ह्रदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथनेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गम्भीरमानसा इति गंभीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञानेनान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गंभीरत्वसूदत्वादिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दार्ष्टान्तिकेपि सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं भवति । अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः **सरःकमलसंपूर्णा** इति । पूर्वं तु शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गंभीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्थैर्यमप्युक्तम् । एते तु बुधाः ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंबन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः तादृश्य आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । रसस्य विहितसरःसंबन्धित्वेन विहितभक्त्यनुसार्येव प्रेमापि तेष्विति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदान्निरूपयन्तो नवमं भावमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तेषु सरोदृष्टान्तीयेषु केचनाल्पं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्तत्वात् संपूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना भक्तिर्दृढा न भवतीत्यल्पसरोदृष्टान्त उक्तः । यथाल्पसरो

नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः। एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम्। एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति। एवं सर्वमित्यत्र। अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः **कर्मशुद्धा** इति। कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतूत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्वलतुल्याः। यद्यपि वेशन्तपल्वलयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्वलयोरपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः। परं तत्रैतावान् विशेषः। पल्वलमपि द्विविधम्। एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम्। पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्वलं स्वल्पं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वल्पं, तथा कर्मपूर्तौ पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः। पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि संभवति। यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः। एतेषु तदभावान्न तथेति भावः। कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवतीति निबन्धे निरूपितम्। किञ्च, यथा एतादृशाः पल्वलरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम्। ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्वलतुल्या एवेति भावः। श्रुतं तु पूर्वमप्यल्पमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः। तदभावात्पल्वलतुल्यत्वं युक्तमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः। तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तेस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते वर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः। वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलस्याल्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु क्वचिदार्द्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः। किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः। अतः परं द्वादशं भावमाहुः **तपोज्ञानादी**ति। केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—**तपः** पञ्चाग्निसाधनादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः। यथा श्रमेण स्वेदजलं स्रवति। ऊष्मणा वा। अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवैते भावाः श्रमसाधकाः, न तूत्कृष्टफलदाः। अग्रेपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः। अत एव 'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेक'मित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावमाहुः—

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्थज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परस्तदभ्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेपि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेपि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्चतः पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव । अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः । यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥ ९ ॥

ननु तेपि देवाद्युपासनं कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साङ्गोपासना न भवेदित्याशङ्कानिरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनं कुर्वन्ति । न ह्येतावानेव वेदार्थ इति तावन्मात्रज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृशा गुणा भावाः भूमेरुद्गताः पृष्वा जलबिन्दवो बुद्बुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्योपासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इत्यर्थः । अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भावान्निरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः **साधनादीति** । देशादिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्माः अश्रुपुलकादिरूपा येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रस्रवणशीला आपस्तद्रूपाः । पूर्वापेक्षया प्रस्रवणशीलत्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि तान्त्रिकरीत्या विष्णूपासना ज्ञेया । परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्विभूतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं संभवतीति सूचितम् । एतेन सकामतापि सूचिता ॥ १०½ ॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्तदा स्थावराः स्थिरजलतुल्याः स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिरत्वस्वरूपमाहुः **मर्यादैकप्रतिष्ठिता** इति । यावत्प्रमाणमर्यादया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः ।

अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता मोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृश्यो नद्योपि परंपरया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥ ११½ ॥

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । **सर्वदे**ति साधननैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः प्रोक्ताः । ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेण क्षयेपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्यागाभावात् कदाचिद्भगवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोष्टादशं भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्वृद्धिं क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्तं समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिबद्धाः सत्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गानुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः । अतः परं केवलं भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः **पूर्णा** इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मैकनिष्ठाः ज्ञातारो वक्तारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः । तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं भावः । श्रीमदाचार्यस्वरूपे अंशद्वयमस्ति, मर्यादामार्गोपदेष्टृत्वं पुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं च । तेन स्वरूपमपि द्विविधम् । एवं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृग्रूपस्यैव प्राकट्यं भवति, न त्वलौकिकस्य वल्लभाष्टकसर्वोत्तमाद्युक्तस्येति तादृशस्य तन्म-

ध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोस्माकं गुरु'रित्युक्तम् । अन्यथा पुष्टिमार्गगुरवस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निरूपस्य स्वस्य व्यासगुरुत्वं न संभवतीति न तथोक्तं स्यात् । एवं सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूपणसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वमनवद्यम् । केचित्त्वग्निः रुद्राग्निरिति वदन्ति । रुद्रस्य भक्तत्वात् । मारुतो हनूमान् परमभक्तः । जडो जडभरतः । नारदः पञ्चरात्रागमप्रवर्तकः । मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता । एते सर्वे मर्यादामार्गीया भक्ता गुणज्ञाः, न तु स्वरूपनिष्ठैकभावा इति समुद्ररूपाः प्रकीर्तिताः । समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथैतेपीति भावः । अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेयः । अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति । किञ्च, एतेषु सामान्यतः समुद्रदृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन गुणदोषविशिष्टो धर्मस्तस्योक्त इति प्रवाहमार्गाद्भिन्नत्वं पूर्णत्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिताः । यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषां हृदयेषु भगवद्धर्मा इति भावः ॥ १४½ ॥

अतः परं समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्भेदान्निरूपयन्तो विंशं भावमाहुः ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

अयं भावः । **एके** भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्वं भवतीति मन्यन्ते, ते क्षारोदतुल्याः, न काचन तैः पुरुषार्थसिद्धिरिति भावः । केचन वेदानुसारेण धर्मान् मन्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिमण्डोदतुल्याः । उभयांशसत्त्वात्तत्तुल्यता । तेपि तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमवतारादिकं चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भावः । अपरे **गुणैः** प्रकृतिगुणैरविद्याधर्मैः कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्याः, स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिनः पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थः । एते त्रयोप्यमिश्राः । अथ मिश्रानाहुः । केचित्तु ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिकाः सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिश्राः क्षीरोदतुल्याः । स यथा स्वरूपतो ह्युत्तमस्तथापि मथनानन्तरं निःसारो जातः, सकलरत्नानां निर्गमात्, तथा तेषां तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थो न सिध्यतीति, न ते ग्राह्या इति भावः । यतो भगवतो 'लोकवल्लीलापि कैवल्य'मित्युक्तत्वात् तत्रालौकिकबुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मता इत्यर्थः । अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न वास्तवाः अविद्यासंवलिताः, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्याः, घृतं विकृतं भवति, क्षीरपरिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाङ्गीकारान्न ग्राह्याः, पुरुषार्थासाधकत्वात् । एके पुनर्भगवति धर्माः सन्ति, परं त्ववतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षु-

रसोदतुल्याः, यथेक्षुरसः स्वरूपतो मधुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारान्न पुरुषार्थसाधका इति भावः। पूर्वापेक्षया षण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम्। एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः। साधनसाध्या लोकवेदप्रसिद्धा इति ॥ १५½ ॥

अतः परं लोकवेदातीतः साधनासाध्यो भगवद्दानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि कश्चन भावो वर्तत इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो बालचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भवप्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः, यथा अमृतस्य षड्रसात्मत्वेपि मधुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्रूपत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा। यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम्। किञ्च, समुद्रस्यामृतरूपत्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम्। अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणा इत्युक्तम्। तथा चोक्तं 'मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इति। अत एव रसिकजनानुभवैकवेद्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः। तादृग्भाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमाद्युक्तस्वरूपाग्नेः कथनमेतेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात्। अतस्तत्राग्निशब्दस्य तथा निरूपणं कृतम्। यद्यग्निशब्दस्य कश्चनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः। यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः। एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वमाहुः **तद्वाक्पानं सुदुर्लभ**मिति। अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे'त्युक्तत्वादत्रापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः। अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदुर्लभा' इत्यप्युक्तम् ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वे को हेतुस्तत्राहुः।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।
अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानां वाक्यं क्वचिदेव भवति। उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुकपरी-

क्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनीवाक्यानि । पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्धववाक्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भवति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं स्वानुभूतत्वेन तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्राहुः **अजामिले**ति । यथा अजामिले सर्वथानधिकारिण्यपि परमकृपया स्वनाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृग् वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति । अत एव क्वचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यममृतरूपबिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथामृतस्य बिन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्रवाक्यश्रवणेपि तादृग्रूपत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥

ननु माहात्म्यज्ञाने जातेप्यविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्बिन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः, आदिपदेनासंभावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति,एतद्यदा भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्तदास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता । इष्टप्राप्तिमाहुः **स्वानन्दोद्गमकारण**मिति । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्, पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्तर्भगवत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवतीति भावः॥१९॥

ननु पूर्वोक्ता शेपादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः—

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा गङ्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गविधिना स्नानपूजादिफलं प्रवाहस्थजल एव भवेन्नास्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्धर्मरूपत्वं पूर्णत्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृग् बिन्दुपानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम् । एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नमिति ज्ञापितम् । किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः **पतितोदकव**दिति । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं, तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्यं न भवति, भूमौ पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति, तथा तानि वाक्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाशयसंवलितत्वाभावादेतत्फलरूपस्वरूपसंबन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं **फलं चापि तथा**

तत इति । यादृशो मार्गः यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः । अथवा, पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रक्रमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुद्धृतं गृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृषादिनिवर्तकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तधर्माचरणादिना अविद्यौपाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्पादकत्वेन सांसारिकतापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति भावः । तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्तदुपकार एवेत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम् । किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः **पतितोदकवदिति** । वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वसस्यादिनाशकं भवेत् । एवं मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौद्धत्येन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम् । अत एव **फलं चापि तथा तत** इत्युक्तम् । ततस्तादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसार्येव सायुज्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

अतः परमुपसंहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियगताः, जीवगता आत्मगामिनः, इन्द्रियगता विषयगामिनः । अत एव भुवि स्वाधारे नानाभावं गतास्तादृशा विष्णोः व्यापकस्य रसात्मकस्य च गुणाः भावा रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥ २१ ॥

यथामति मया भावा रूपतः फलतोऽपि हि ।
निरूपितास्तत्र किञ्चिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत् ।
अन्यथा तत्सकरुणा क्षमन्तां प्रभवो मम ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभकृतं श्रीजलभेदविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्ममरन्दपानघूर्णायमाननयनः स्फुटलाञ्छनश्रीः[1] ।
मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्धृदि गोपिकेशः ॥ १ ॥
भावाब्धिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।
गोपीशभावभावाप्तिर्यत्कृपातो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रतिजानते । यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नभावोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवन्नमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति **नमस्कृत्येति** ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य **तद्गुणानां** तदीयभक्तगुणानां **विभेदकान्** विशेषेण भेदबोधकान् **भावान् वक्ष्ये** इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण **भिन्नान्** तान् वक्ष्य इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सर्वसन्देहवारकानिति** । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्तिसन्देहवारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानेवाहुः **गुणभेदा** इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं, तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसाम्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेदुच्यते । तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात् । अत एवोक्तं 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि च । तस्माद्भ-

१ स्फुटालङ्कृतश्रीरिति मूले पाठः ।

क्तत्वेपि न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नेत्यलम् । तत्र प्रथमं भगवतो रसरूपत्वाद्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्योच्यते 'यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्नुते तदा वीणास्मै वाद्यते' इत्यादि । तस्माद्गानप्रियो भगवानिति गायकानां भावमाहुः **गायका** इति । **विश्रुताः** प्रसिद्धाः गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसङ्काशास्तेषां भावः कूपजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, घर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलस्तदनन्तरं रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः । तथा सति अतिप्रचुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तःशीतल इति भावः । ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं 'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालक्रियाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौपं जलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः ॥ २ ॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्क्याहुः **कूपभेदास्त्वि**ति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इत्यर्थः । यथा केचित् कूपा मिष्टान्नपरिपाचकत्वे सुरतरुपक्षस्थाः, केचिद्गुरुत्वादन्नपरिपाककारिणः, केचित् क्षाराः शुद्ध्यादिहेतवः, एवमनेकभेदास्तथा तेपि भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ताः, केचिच्च नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञाः, केचिद्गानमाधुर्यपराः बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेयाः इति भावः । प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयमाहुः **कुल्याः पौराणिका** इति । पौराणिकाः पुराणज्ञाः कुल्याः प्रोक्ताः । कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इत्यर्थः । यतो भुवि पारम्पर्ययुताः, धरण्यां यथा परम्परया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियत्नैरेव प्रवहति, प्रमादादप्यप्रयत्नतो वालुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शन एव भावो भवति, नान्यदा । यथा तस्याः पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्नदीजलवत् सादित्वं समुद्रगत्वं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकाल एवोत्पत्तिस्तत्रैव च समाप्तिर्न तु दयासमुद्रभगवद्गामित्वम् ॥ ३ ॥

तृतीयमाहुः **क्षेत्रप्रविष्टा** इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिकाः ॥ ४ ॥

ते च पौराणिकाः । गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनि-

रूपणेन पुराणोक्तभगवल्लीलानिरूपका गायका इवेत्यर्थः। गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः। क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः। चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो बोध्यते। अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्त्वेवेति बोध्यते। यथाल्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या। तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वात्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः। अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः। 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति। चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादिसहिता** इति। वेश्यादिसहिता मत्ता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः। यदि गानस्वरूपज्ञानेन दोषरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वाद्विषयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः। यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्धृदयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भगवतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वात्तेष्वपि आनन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः। मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः। यथा कूपोदकं गुणैकग्राह्यं भवति, जलग्रहणपर्यन्तमेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्द्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहित्यमिति भावः॥ ४॥

पञ्चमं भावमाहुः **जलार्थमेव गर्तास्त्विति**।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः॥ ५॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति। प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तत्तुल्या गानोपजीविन इत्यर्थः। यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्ध्यादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः। नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, तद्गानस्यानन्दराहित्यादित्यर्थः। षष्ठं भावमाहुः **ह्रदास्त्विति**। भगवच्छास्त्रगीतापञ्चरात्रश्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः ह्रदाः प्रोक्तास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इत्यर्थः। तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न त्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते। यथा ह्रदजलं तरङ्गावर्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाञ्चल्यरहितमनोनिवर्तनाद्यनुपहतो भगवच्छास्त्रतत्परत्वात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानिरूपणयोग्य इति भावः॥ ५॥

सप्तमं भावमाहुः **सन्देहवारका** इति ।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकभगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा ह्रदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्ध्रदोदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालाद्यावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा ह्रदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो बहिर्लौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तप्त इति भावः । अष्टमं भावमाहुः **सरःकमलसम्पूर्णा** इति । यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं सुरभिशीतलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृत्कमले व्रजसीमन्तिनीभावस्थितिसहितभगवत्सेवोपभोग्यो भगवच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्चेति भावः ॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः **अल्पश्रुता** इति ।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्षाशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गाच्च कलिलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परमल्पाध्ययनत्वात् असकृल्लौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः **कर्मशुद्धा** इति । कर्मत्वेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य स्मृत्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तया भक्तिर्येषां तेपि तत्तुल्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनादृढत्वात् तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः **योगध्यानादिना संयुक्ता** इति ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाङ्गुष्ठमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्ष्याः तज्जलतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परमचिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः । द्वादशं भावमाहुः **तपोज्ञानादिभावेनेति** । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्याविद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)भिर्यो भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः स्वेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्थज्ञानेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्व एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यन्तम् । 'रहूगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा स्वेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्वादु, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्लेशादिकर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥ ८॥

त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेन ज्ञानेनेति** ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन भगवद्दत्तेन महत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुःखहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपव्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वतशिखराद्धारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्धृदि भगवत्स्थितिं बोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

चतुर्दशं भावमाहुः **देवाद्युपासनोद्भूता** इति ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदादुमादुर्गाभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भगवत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमेः सकाशादुत्पन्नाः तुषारजलकणा इवेत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजनेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो-

ऽन्यथा चिन्तितत्वान्नरकः । अत एव 'योन्यथा सन्त'मित्युक्तम् । यथा तज्जलं न स्नानादियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पंकिलं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिकमुत्पादयति, मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजंस्तमनुकारयति इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः । **साधनादिप्रकारेणा**ग्निहोत्रनित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाभक्तिरूपो मार्गस्तेनैव **प्रेमपूर्त्या** ये **स्फुरद्धर्मा**स्ते **स्यन्दमाना**स्ते प्रस्रवणतुल्याः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिबाहुल्यात् वर्धते, आतपादिषु च हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्सङ्गैर्वर्धते, दुःसङ्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः । अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहूतिं प्रति सत्सङ्ग उक्तः 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य'इति । यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादामार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रततपोहोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्यन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः । षोडशं भावमाहुः **यादृशाः** पूर्वमुक्तास्तादृशाः सङ्गादिना वृद्धिक्षयविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा नवधाभक्तिमार्गमर्यादायामेव मुख्यतया **प्रतिष्ठिताश्चेत्** तदा ते **स्थावराः** समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नातपादिभिर्ह्रासं प्राप्नोति, न वा वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसङ्गादिभिर्न क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥ ११½ ॥

सप्तदशं भावमाहुः **अनेकजन्मसंसिद्धा** इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सत्सङ्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः **जन्मप्रभृति** आजन्मतो भगवद्भजनतत्पराः सर्वदा सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगामित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा** इति ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्वोक्ताः **स्वतन्त्राः** श्रवणसङ्गाद्यपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतन्त्रा एव भगवद्भजनपराः **सिन्धवः** समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य

इत्यर्थः। यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशतीति भावः। एकोनविंशं भावमाहुः **पूर्णा भगवदीया** इति। ये **पूर्णा भगवदीया** भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भगवदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः। तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः। तानेव वर्णयन्ति **शेषव्यासाग्निमारुताः** इति। **शेषो** भगवत्सेवापरः स्वसुखादिकमविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव चात्मसुखं मन्यते। **व्यासः** कलावतारः सर्वोद्धारार्थं भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्तिशास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः। **अग्निर्**महादेवो यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भगवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान्। अत एव 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इति श्रीभागवते। अत्र महादेवस्य नाम विहायाष्टमूर्तिस्थाग्नित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदहकत्वमुक्तम्। **मारुतो** हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः। **जडो** जडभरतः भगवल्लग्नमानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति। नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोप्यानन्दजनकः। अत एव श्रुतिः 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत' इति। मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता। आद्यपदात् प्रह्लादादयः। तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः। यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते' इति।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति **लोकवेदगुणैरि**ति।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान्॥ १९॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति। ते यथाक्रमं क्षाराद्याः क्षार आदिर्येषां ते षट्संख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इत्यर्थः। तेषां तेषां भावो भिन्नभिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इत्यर्थः। रामकृष्णौ मनुष्यावेव परं बलतेजोधिकाविति देवौ वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः। यथा क्षारजलं न तृषानिवर्तकं, नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन तत्स्वरूपशोधकः। बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिदानन्दकारीति भावः। ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, नतु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः। यथा दधिमण्डस्यासारत्वात् न प्राणपोषकत्वं न वा चित्ततापनिवर्तकत्वं, तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्दमयज्ञानाभावान्न मोक्षौपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वमिति भावः। मायया सत्त्वादिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति

तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः । यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहनस्वरूपविस्मारणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तथात्वं सम्पादयतीति भावः । हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यादिश्रुतिगोचरात् कारणभूतः सर्वं स्वेच्छयैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमग्नितप्तत्वे माधुर्याधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्ध्याधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः । भगवानलौकिकवीर्यवान् स्वीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः । यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः । भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्तैर्मुहुरभिप्रार्थ्यचरणरेणुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः । 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरुषोत्तमो भगवान् एवाल्पाश्रयरहितोऽसौ भक्त्यर्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः ॥ १५½ ॥

पूर्णभगवदीयेषु मुख्यान्निरूपयन्ति **गुणातीततये**ति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्रूपाः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् न्यूनाधिकाभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यानृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवल्लीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः । तेषां भावः सुधासम इति भावः । यथा सुधायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः । एतादृशानां तद्वाक्पानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं अन्तर्निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्रापकत्वमुक्तमिति भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैवे'त्यारभ्य 'सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यन्तेन, 'अधीते'

इत्यारभ्य 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च । तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः **तादृशानामिति** ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनामृतपानं दुर्लभम्, ते क्वचित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्प्रभुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तत्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्य इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं बिन्दुपानममृतबिन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः । यथामृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवौपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इत्युक्तम् । 'महिमामृतसमुद्रविप्रुष' इति च । अत्रानुभूतनिदर्शनमाहुः **अजामिलाकर्णनवदिति** । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणेन भगवद्धर्म एव रुचिरभूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥ १८ ॥

लौकिकाद्यासक्तिरहितबिन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः **रागाज्ञानादिभावानामिति** ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागः स्नेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावानां यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्त्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकबिन्दुपानं स्वानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्गमार्थं कारणं भवतीति भावः । स्वस्य जीवभावेन तिरोहितानन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विंशं भावमाहुः **उद्धृतोदकवदिति** ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

पूर्वोक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाववचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा स्वस्य स्नानपानदशासु यत्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः । तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा मलस्नानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां

भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृषाशान्तिं करोति, स्रोत्पत्तिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा तु सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीबालकृष्णकृतजलभेदविवृतिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यत पुष्टिमर्यादामार्गयोः पूर्णा ये भगवदीयास्त उच्यन्ते । अत एव विवृतौ भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र मर्यादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव । तद्विरहे स्वरूपं विना स्थातुमशक्त्या तत्परत्वात्[1] । तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत एव 'तव कथामृत'मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय षड्गुणत्वमुक्तम्[2] । तत् स्वरूपात्मकत्व एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु षड्गुणत्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् । तत्र **शेषः** पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात् । **व्यासस्तु** मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मिति वाक्यात् । **अग्निस्तु** प्रभुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात् । **मारुतोपि** तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेपि पुष्टिमार्गप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात् । अत एव श्रीसीतामनःसमाहितये लङ्कायां दूतिकाया इव तस्य प्रेषणम् । **जडो** मर्यादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसङ्गसभयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वाच्च । **नारदोपि** तथा, सततं गुणपरतया तावन्मात्रेण स्वस्थत्वाच्च । **मैत्रेयोपि** मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येपि विदुरोपदेष्टृत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्यथोद्धव इव क्लिष्टोनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्ततयानुवदेत् । एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रत्वमत्रोच्यते, न

१ गुणपरत्वात् । २ षड्गुणत्वम् ।

तु विशिष्य । तथा च यथा समुद्राः पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यथा वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैवैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगवद्वदनविधुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्याज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयभक्तपङ्क्तिपाठोनुचित इति मत्सरिकथनं नीरमथनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव षड्विधाः भिन्नाः कृताः, एकविधाः पुष्टिमार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन भिन्नाः कृताः । भगवद्गुणानां षड्विधत्वेन मर्यादामार्गीयाणां षड्विधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् । पूर्वे हि मिश्रभावाः, तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात् । तद्द्वारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत एव तद्दीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मकत्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव विवृतौ 'पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्याभास उक्तः । तदर्थस्तु पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेपि तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् । तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विज्ञेयः । ननु तथापि तादृशपंक्तिपाठस्तदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति चेत्? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न सहेयुः, क्व पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कञ्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्थलेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टान्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकटनाय तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्वरूपानेवाविर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः प्रकटितमिति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभगवदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः । वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदीयत्वं चाचार्येषु भिन्नमेव । भगवदीयत्वं तदास्यरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रभौ रसात्मकत्ववत् । अत एव यथा प्रभौ रसलीलायां तद्धर्माविर्भावो ब्रह्मत्वं च तादृशस्यैव, तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नानुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्णत्वमेव । चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पञ्चात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम । इतरत्र तु गुणैरेव तथात्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदी-

यत्वं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तथोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रभुणा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोय' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्षपवत्तारतम्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिभिर्यथे'त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं बाध्येत । अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते । किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्याद' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् बोधयितुं तत्पंक्तिपाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अवतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणाच्च । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकरणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति बोधयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविवृतावन्यथामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयमिति दिक् ।

अभिज्ञविवृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते । अशक्ता अपि सुज्ञास्तु विश्वसन्ति तदीरिते ॥ १ ॥
शक्तास्तदाश्रयबलादभिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम् ॥ २ ॥
गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि । दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥३॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवदीया' इत्यस्य संशयनिराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीवल्लभैः **'पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः । जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः'** इति जलभेदभावग्रन्थे चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (त्रुटिपत्रम् ।) अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः । तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः । मुद्राऽत्र वैदिकतान्त्रिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तप्तशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि

---

१ पंक्तिर्गणना तेषां गणनायां पाठो निरूपितः । २ व्यूहकार्यम् ।

ग्राह्या । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र शेषः श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकवैदिकधर्मपरायणतप्तमुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः सम्भूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकतान्त्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितराजसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्षणप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । मारुतो वायुजो हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतान्त्रिकधर्मपरायणतप्तशीतलोभयविधमुद्राङ्कितराजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः संभूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आचार्या उक्ताः ।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति **जडनारदमैत्राद्या** इति । जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वैष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वरूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिवल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः श्रीरूपाख्यः सम्भूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गस्योपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्थ इति केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यस्योपसम्प्रदायी जात उक्तः । एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे 'प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध'मित्यत्र 'भेदः पारमार्थिक' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्धाय योऽहिंसां' इत्यादिभिरिति । पद्मपुराणे तु 'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः, ब्रह्मसम्प्रदायिनो माध्वाः, रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्टहरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदितम् । भारतीये वैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तवेपि 'अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर' इत्यत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनाम्नैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीविष्णुवल्लभाख्यायां द्रष्टव्यम् ।

वियदर्थवसुग्लौभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।
चैत्रे सिते गुरौ द्वैते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत् ॥ १ ॥

---

१ तामस ?
७ जल०

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विंशतिधा भिन्ना भक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्द्रीकर्तृत्वज्ञापनाय । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविद्याप्रतिपादितभगवद्गुणानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यावत्त्वम् । अतः परं तद्वाक्यद्वारा तद्भावग्राहकान् श्रोतॄन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैस्त्रिविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तस्य यो रसो भजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्थायिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याऽरतिश्चरितश्रवणविषयिणी तया वर्जिता इत्यर्थः । अयमर्थः । भगवच्चरिताकर्णनविषयिणी अरतिर्द्वेधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन । तत्र मर्यादामार्गे 'शुश्रूषोः श्रद्दधानस्ये'ति वाक्यान्महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽरतिर्निवर्तते । पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वाभाव्यादेव 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थ' इति वाक्यान्निवर्तते । तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यभावं निरूप्य तन्मात्रविषयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिमाहुः **अनिर्वृता लोकवेद** इति । लोकयुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके । अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहिता अस्वस्था[1] इत्यर्थः । उभयोरपि लोकवेदयोः 'ये त्यक्तलोकधर्माश्चे'ति वाक्यात्त्याज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मित्यादिवाक्यान्युक्तानि । वेदानिर्वृतिबोधनाय 'मग्नमुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । त्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं व्रजमुद्धर, नतूद्धृतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्या इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गप्रकारेणारत्यभावरतिभावयुक्तास्ते मुख्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

---

१ विप्रयोगे गुणगानं विना स्थातुमशक्यम् । २ अस्वास्थ्यम् ।

अथवा, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपभगवन्मुखारविन्दसंलग्नालेककुल-त्वेनोच्यमानाः सम्भूय भक्तिमात्राश्रयेण पुष्टिमार्गमुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्वमनिर्वृता लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्क्याहुः **श्रवणोत्सुका** इति । भगवति रतावपि वियोगे श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रवणौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं 'इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम् ॥ १ ॥

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अतिदुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्निरूपयन्ति ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्वसम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं विदधाति, शुकादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः । तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः । ननु विक्लिन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि तद्रीत्या भवतीति तद्व्यावर्तकं धर्ममाहुः **भगवत्स्मृतिविह्वला** इति । श्रवणावसरे या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः षड्गुणपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन रसेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रभुदर्शनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापाततः उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्ममाहुः **अर्थैकनिष्ठा** इति । ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तन्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फलसापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः । ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तात्पर्याभावादित्याशङ्क्याहुः **श्रवणोत्सुका** इति । त[2]त्साध्यफल[3]तात्पर्यवत्त्वेपि श्रवणे भगवच्चरित्रश्रवणे उत्सुका औत्कण्ठ्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदादीनाम् । तेषामितरापेक्षया पूर्णवैराग्यवत्त्वेनोत्तमत्वेपि सोपाधिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतुत्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफलसाधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथात्वम्[5] । विदुरस्य तु 'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्वक्तृसन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोद्देशेनेति स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिद्वि-

१ अलिकुलेति पाठः । २ चरित्र । ३ मोक्षादि । ४ मुक्त्यर्थम् । ५ तेषु मध्यमत्वम् ।

दुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सङ्गाभ्यामेव विदुरे श्रवणाधिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवास्मदाचार्यैरुक्तं 'मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्पर' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचाञ्चल्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण ॥२॥

एवं मध्यमान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन भिन्नतयाऽनिरूपणीयत्वादुत्तमनिरूपणमध्य एव केनचिद्धर्मेण तान्निरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादियुक्तत्वेन साकारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भाववत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवाभ्यां सन्देहरहितं तत्रापि सर्वभावेन 'यावान् यश्चास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः । नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावान्न श्रोतृत्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः **ते त्विति** । ते पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगवदावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः । तेषां रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिबन्धकत्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य स्वान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेषणादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन । अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिति । ननु भगवदावेशे भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोर्गुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **निरोधाद्वेति** । तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वातन्त्र्येण निरोधकत्वं श्रूयते 'मद्गुणश्रुतिमात्रेणे'त्यादौ । अतो निरोधेन वा वैकल्यमित्यर्थः । नचान्यथेति स्वरूपनिरोधान्न तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रोतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्मोक्षाद्यर्थनिष्ठतैतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थैकनिष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुरणात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः । नन्वेवं पुष्टिमार्गीयेभ्यो न भेद आयाति, तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्क्याहुः **कदाचिन्न तु सर्वदेति** । एतेषां भावनावसरे गुण-

गणाकर्णनावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तथात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तथात्वमित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम् । अन्यथा 'मथुराया व्रजं गता' इति ताटस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रभुरेवाह एकादशे 'ता नाविद'न्निति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलधिंजलप्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते । अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहौतप्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्यलमुक्त्या । एवं बहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोत्तमान्निरूप्य बहिःसंवेदनदशापन्नांस्तान्निरूपयितुं बहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमान्निरूपयन्ति **अन्यासक्ता** इति । ये केचित् ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादिभिरुत्कर्षापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्गृहादिकं तत्रासक्त्या वृत्त्यादिसम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुणगायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुशब्देन भगवदर्थकगृहासक्ता व्यावर्तिताः । तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥ ४ ॥

एवं मध्येऽधमान्निरूप्य पुनर्बहिःसंवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

बहिःसंवेदनदशायामपि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो येषामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यचेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः **देशकाले**त्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशादयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः । केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, बहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवेशेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष इत्यर्थः । ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, नेदानीम्, अन्तःकरणस्य तस्यैव स्वरूपतः सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः **मर्त्या** इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्रूपा एव, भावनया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्तदा, बहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्तिरिति तत्र देशादिषु शास्त्रेणाहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु, आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ताः ।
मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥ १ ॥
आचार्या निजकरुणामात्राः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।
नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥ २ ॥

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचातुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चकविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्या बीजभावदार्ढ्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदार्ढ्यार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तन्निर्धारपूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्तिहेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदार्ढ्यमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्' 'महतां कृपया यद्व'दिति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः, महत्कृपाभिव्यक्तभगवत्कीर्तनस्यानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्बन्धकीर्तनं न सुखदं, किन्त्वरुचिविषय इति, तत उत्कृष्टाधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवभेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् **श्रीकृष्णरसविक्षिप्ते**त्यादिकान् **हरेर्भक्त्या** इति निगमनान्तान्वदन्ति । प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः **श्रीकृष्णे**त्यादि । किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावं सम्भवरूपं श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जलभेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतॄन् विचारयन्ति **श्रीकृष्णे**त्यादि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

अत्र **अनिर्वृता लोकवेद** इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम् । तादृशमेव हि लोके वेदे चानिर्वृतेः । **रतिवर्जिता** इति विशेषणं तु रती रमणं बहिर्भगवत्प्राकट्येन भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वे'ति श्लोकद्वयेन यादृशोविकार उक्तस्तद्राहित्यं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यश्चोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं क्रोडीकृतम् । तदत्र आहुः **श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका** इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्तं मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थानुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे

उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । अथ यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणस्ते तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकत्वादि दृश्यते, श्रवणे तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति । नन्वेकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्' यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः, सुबोधिन्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत्? उच्यते । तथाहि, प्रश्ने नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्टाः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः । किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः, प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्धृदयस्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्यत्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सङ्गार्थं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृशा विवक्षिताः तेऽत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तुरीयेण यथाचरतीत्यर्धोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मबीजाना'मिति श्लोकोक्तलक्षणवत्त्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमानाहुः **विक्लिन्ने**त्यादि ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भगवद्रसेनार्द्रं मनो येषां ते तथा । तु पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रवणोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिबीजदार्ढ्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः । एवं च ये गृहस्थाः आसक्तेर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधनपरत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः । अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये ॥ २ ॥

एवं पुष्टिमर्यादामार्गीयान्मध्यमानुक्त्वा मर्यादापुष्टिमार्गीयान् जघन्यानाहुः **निःसन्दिग्ध**मिति द्वाभ्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

कृष्णतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं षड्गुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञानादिजनकत्वं पतितपावनादिकत्वमनारोपितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदावेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनरन्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वादन्यावेशेन भक्त्युत्कर्षराहित्याच्च जघन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे वक्तुरपि तादृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयतनीयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति तदभावार्थं सामान्यतः श्रवणादिभक्त्यधिकारिण आहुः **अनन्यमनस** इत्यादि ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भगवदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सङ्गार्थं मृग्याः, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु नैतादृशेषु सञ्जनीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मधुभिदश्चरणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः ।
बुध्येत नो विघटनं च फलं यदास्यां नो सेवनाग्रथनमत्र तदर्थमिष्टम् ॥ १ ॥
वह्निर्बभूव जगतो हितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पदशश्चकार ।
यः सूत्रयोर्निगमसंशयबाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमुक्तावल्यादिभूयस्सु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां चेतस्ततो विप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् स्वान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं प्रतिजानते **यादृशी**त्यादि, **नोच्यत** इति । तत्फलं तु श्रोत्रभिमुखीकरणं निरूप्यार्थस्य यावतः प्रतिज्ञोचिता, नत्वेकदेशस्येति तु न शंक्यम् । यतः फलमेव प्रधानं प्रतिबन्धकं तु तद्विघटकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तच्छेषस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम्, स्वप्र-

धानत्वेनानिरूपणात् । फलमिति जात्यैकवचनम् । यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः । स च हतय इवेत्यादि निन्दया बोध्यः । तत्सिद्धौ तस्या यावज्जीवनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमाणत्रयमेव बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकथनमनुपपन्नमित्याशंकनम्, तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादास्थितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं गौणत्वम् । पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम्, फलस्य मूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अलौकिकसामर्थ्यं तु अपारतेजसः फलदित्सायां सलीलस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । अत्रानुभवश्च मनसा तदध्यक्षीकरणम् । न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, अप्राप्य मनसा सहेति वचनात् । तदर्थं च तद्भोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मृग्यम् । तच्च संघाते अलौकिकसंघातस्य विज्ञाने चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंबन्धेऽयसश्चामीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च प्रभ्वेकसंपाद्यमित्याहुः **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येद् मनोरथ** इति । चस्त्वर्थे । **हि** युक्तश्चायमर्थः । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वे'ति तु मार्यादिकस्य । तथा चोक्तम् 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथा हि विरोध' इति । सायुज्यं त्वन्तर्गृहगतानामिव मध्यमं फलम् । तच्च द्विविधम् । बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरूपम्, आन्तरं तु व्युच्चरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्मणि लयः । अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः । न च भक्तस्य न लयः । ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति भाष्योक्तेः । एतच्च 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति वाक्याभ्यां गम्यते । परं ब्रह्मोपैति तदनन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां कृत्वाशेषैर्ब्राह्मैः कतिपयैर्वेति संदिह्य 'न तत्सम' इति निषेधादशेषैः साम्यासंभवात् कतिपयैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपयैरपि धर्मैर्जायमानं साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थे 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि'ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायुज्यस्य 'हानौ तूपायन'सूत्रभाष्य एव स्पष्टत्वात् । तृतीयं **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** । सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम्, पक्ष्यादीनामिव । ननु प्रभ्वेकसम्पाद्यपूर्वफलस्यान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्मूले **फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक** इति । फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहः । अत्र एतदुभयोः कालो न नियामकः, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । अत्र वाद्वयं फलतदधिकारयोरुभयोरपि भगवत्समक्षत्वबोधनाय । यद्वा, वाद्वयं क्रियाक्षेपकम्, फलं वा स्यादधिकारो वा स्यात् । कालेनेति नेत्याहुः यतस्तयोरनियामक इति । अत्र एतयोः । उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति वाक्यं विवृण्वन्ति **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति** ।

उद्वेगः सेवायां क्रियमाणायां मनोवृत्तेरस्थिरता । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु वक्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् त्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्रीत्यागमेवोपदिश्य पाठक्रममनपेक्ष्य चरमोद्दिष्टमपि भोगं संनिहिततरत्वेन लौकिकालौकिकभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य त्याज्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं विभजन्ते **साधारणो भगवत्कृतश्चे**ति । तत्र साधारणो दुरदृष्टजन्यः, भगवत्कृतस्तु उत्तमं मार्गं दृष्ट्वा सङ्गतः प्रवृत्तासुरमात्रविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रागतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतस्याग्रे वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्रं निर्दिश्य साधारण**माद्य**पदेनोल्लिख्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः । आद्यत्वं तु प्रतिबन्धक्रमे, बुद्धिस्तु सेवायामायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकस्याकरणम्, आवश्यकस्य तु अनवसरे प्राग्वा करणम् । **निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते स**देत्यस्य व्याख्यानमलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे विशतीति । अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात् तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाच्चादोषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः । साधनं प्रभ्वनुग्रहः । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया स्वरूपानन्दस्योत्कृष्टत्वात् । फलं तु 'सोऽश्नुते' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले विशते । **निःप्रत्यूहं** क्रियाविशेषणमेतत् । जायमान इति क्रियाध्याहर्तव्या । **विशतौ** विशेषणदानस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोस्ति । एतस्मिन् भोगे कालकर्मादीनामविघातकत्वात् । **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यस्य** व्याख्यानं **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति** । अक्षरार्थस्तु भगवतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा गतिः प्रभुप्राप्तिः । अकर्तव्यतानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वाणस्याचिन्तितस्यापि लौकिकवैदिकादेर्मुहुरापतनात् । ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्याशंक्याहुर्विवरणे **तदान्ये**ति । भगवल्लक्षणफलस्येतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहानिश्चयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थतेत्याशयः । अत एवोक्त**मासुरोयं जीव इति निर्धार** इति । **यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मत**मेतस्य विवरणं **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाये**ति । विवेक इति । ज्ञानमार्गश्च जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं जगन्मिथ्यात्वज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रफलभोगविराग इत्यादिः । सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नौपनिषदः, तस्मिंस्तस्यानधिकारित्वात् । मूले **वा** शब्दोनादरे । इतोपि न ज्ञानमार्गीया मुक्तिरपि तु शोकाभाव एवेत्याहुः **शोकाभावाये**तिपदेन । कथमेवमिति चेत्, निबन्धायासुरी मतेति वाक्यादिति गृहाण । भगवदर्थिनः फलस्यैव निरूपणमुचितम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपणमित्याशंक्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग इति । परित्यागस्तु साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्भोगेप्येकं परं विहाय । तथेति त्याग इत्यर्थः । बाधकानामिति वाक्यं सुगमत्वाद्व्याख्याय निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना पूर्वमेतद्व्याख्यातत्वात् तत्प्रतीकमपि अगृह्य सविघ्नोऽल्प इति वाक्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहेति सविघ्नोल्पो घातकः स्यादितीति** प्रतीकग्रहणम् । तदर्थस्तु **सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य** इति । **बलादेतौ सदा मताविति** वाक्यव्याख्यानं एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्हेयतावच्छेदकरूपावुक्तौ । **द्वितीये सर्वे** इति वाक्यं विवृण्वन्ति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्धव्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाक्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति** । द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संसृतेरवश्यभावित्वेन फलान्तरस्यासंभवात् तद्विषयिणी चिन्ता नैव कर्तव्या, व्यर्थत्वादित्यर्थः । **नन्वाद्ये दातृता नास्तीति** वाक्यव्याख्यानमाद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति । मूले आद्यपदं प्रतिबन्धकत्रये आद्यपरम् । तथा चाद्ये उद्वेगे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः । विवृतौ तु आद्यफलाभाव इत्यत्र फलाभावपदयोः षष्ठीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आद्यपदेन ·तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः । आद्यफलस्य अभाव इति तु न भ्रमितव्यम् । फलाभावस्याप्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वासंभवात् । तथा च सेवायां क्रियमाणायाम् मनस उद्वेगे जायमाने अमानसीत्वादनाधिदैविकीत्वसंपत्तौ भौतिक्याश्च फलाजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव । प्रभोः का वा शक्तिर्मानसोद्वेगनिवारणे यतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । **तृतीये बाधकं गृहमिति** वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति । **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति । तथा च मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम् । यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्प्रयोजनमाहु**रवश्येति** । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, न स्ववशा, भक्तिमार्गीयफलप्रतिबन्धनिवृत्त्योर्भगवदधीनत्वात्, तथापि निरन्तरं भाव्या फलप्रतिबन्धयोः संश्लेषासंश्लेषार्थम् । नन्वितोपि किञ्चित्फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे स्यादिति नेत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति । मोक्षपापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसंभवादिति भावः। तथा च 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी'ति 'विकर्म यच्चोत्पतित'मिति च भक्तिमार्गीयस्यैतदेव फलम्, उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारतम्यमिति वाच्यम् । एतद्विना लीलानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्, 'अहो मायागुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते' । 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं

कृत्वा भजन्त' इति च । स्पष्टं चैतदाकरे । प्रभुसमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैतद्भाव्यमिति नेत्याहुः **तदीयैरपीति** । तत्प्रतिबन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम्, पुष्टिमर्यादास्थस्य साधनद्वारैव फलनैयत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चिरकालोक्तेत्यारभ्य सुधां ववर्ष तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम्, अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां कर्तव्यत्वेन स्थेयमिति दिगित्यन्तेन । न चायं पुष्टिस्थ एवेति वाच्यम् । तस्य फलविलंबासंभवादिति आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति** । फलं प्रभुरिति शेषः । एवं सत्त्वरजस्तमसां परस्पराभिभवनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेपि एतद्भावनमेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे चित्ते जायमाने मनःक्षोभनिवृत्तेः । क्षोभश्चायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात् । अतस्तत्रापि नान्यत्साधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः **गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिरिति** । ननु भगवदीयत्वस्य फलावश्यंभावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैयर्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, इयं नाशंका, अपि तु सिद्धान्ताबोधजभ्रमजन्या **कुसृष्टिरेवेत्याहुः कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते स वै भ्रम** इति । भ्रमत्वं तु स्वतन्त्रेच्छस्य प्रभोर्भक्तवैचित्र्यं विना लीलानुपपत्तेर्वैचित्र्यस्यावश्यवाच्यतया मर्यादापुष्टेरनपोद्यत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरिहार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानवबोधविजृंभितत्वात् पुष्टौ नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोप्यर्थोवसरे स्मारितः ।

वृष्ण्यन्ववायजलधिप्रविभूतचन्द्रश्चन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः ।
राधाननेन्दुसुषमामृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तमोहृतये स मेऽस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटीका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

वल्लभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि । यदाश्रयकथामात्रेऽप्यखिलाः पुष्टिसिद्धयः ॥१॥
यद्यपीश्वरवाक्यार्थाः स्वतोऽज्ञेयास्तथाप्यहम् । सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया वक्तुमुत्सहे ॥२॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यनिरूपितं सेवाफलाख्यं प्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं सुगमत्वाय विव्रियते । **यादृशीति** । यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तनुवित्तजा सिद्धान्तमुक्तावल्यादिषु प्रकर्षेणोक्ता तस्याः सिद्धौ परिणामदशायां इहामुत्र च यत्फलं भवति तदुच्यते । अत्र फलमिति जात्यभिप्रायेणैकवचनम्, तेन फलत्रयमुक्तं भवति । तदेवोक्तं टीकायां सेवायां फलत्रयमित्यनेन । नन्वेकस्या एव सेवाया विसदृशं फलत्रयं कथं भवितुमर्हतीति चेत्, इत्थम्, भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादा-

पुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति । तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्परम्पराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशस्त्रिष्वप्यनुस्यूत एव । इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसम्भवान्यथापत्त्यवधेयौ फलत्रयकथनेन च । साधनफलयोस्त्रित्वे वस्तुतो नियमिका विचित्रा तदिच्छैव । तथा च यं भक्तं यस्मिन्मार्गे भगवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रानुपपत्तिः । अथ तत्रयं किंरूपमित्याकांक्षायामुच्यते । **अलौकिकस्येत्यारभ्याधिकारो** वेत्यन्तेन । तद्विवरणमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम् । अर्थस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं पूर्णं सर्वात्मभावैकलभ्यं फलं साधनरहितं यदा वरवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फलाव्यभिचरितपूर्वजन्मसंबंधी सकलफलाग्रगण्यो व्रजभक्तसदृशो यो मनोरथः स सिध्येत् । तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनानन्दानुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः । अत्र दित्सायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निर्देशस्तु भगवतः स्वतन्त्रत्वात् तद्दानस्य नित्यत्वात् निरपेक्षत्वादनंतत्वाच्च । तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शादिसुखं कदाकदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु वाच्यमग्र इति कैमुतिकन्यायेन आमुष्मिकफलस्यानिर्वचनीयत्वं सूचितम्। अत एव पुष्टिमार्गीयामुत्रिकफलस्यात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवचनीयत्वाच्च । हि युक्तश्चायमर्थः । यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवद्दत्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति । चकारस्त्वप्यर्थे । तथा चाद्योपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि श्रीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता दीयते चेत्, सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः । अल्प इति पाठे पुष्टिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धिफलमगम्यत्वात् जीवैर्मनोरथीकर्तुमपि न शक्यते । अतः फलापेक्षया स्वल्पोपि मनोरथः भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्ण एव सिध्यति, न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः । इत्येकमविहितभक्तसदृशं फलमुक्तम् । विहितभक्तविहितं द्वितीयमाहुः **फलं** वेति । तद्विवृतिः **सायुज्य**मिति । सायुज्ये फलोक्तिस्तु लोकवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः । तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै 'मामेवैष्यसीत्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं प्रयच्छतीत्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः **अधिकारो** वेति । तट्टीका सेवौपयिकदेहो **वैकुण्ठादिष्वि**ति । वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कुर्वन् तिष्ठतीत्यर्थः । आदिपदाद्भूमावपि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवापर एव भवतीति ज्ञापितम् । अथवा देहाध्यासस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पुष्ट्यंशस्य सत्वादग्रे यथाधिकारं पुरुषोत्तमसंबन्धो भावीति ज्ञेयम् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । यद्वा, **यादृशी**ति पूर्ववत् । फले त्रित्वोक्तिरैहिकामुष्मिकाभिप्रायावान्तरपरमफलाभिप्राया वा । वस्तुतः परमफले विहिताविहितभक्त्यधिकारके सायुज्यभजनानन्दरूपद्विविधे एव । तथा चैकमैहिकमवान्तरफलं

वा । अग्रे आमुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले । अत एव निबन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भजनानन्दरूपमेव । फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव । अथ कश्चिद्ग्रहिलस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्प्राप्तौ चान्यत्सेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणमस्त्विति वदति चेत्, तत्राहुः **अलौकिकस्ये**ति । इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अतस्तद्भगवतैव दीयते चेत् प्राप्यते, नान्यथा । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति, इतरे त्वमुत्र । तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम् । ऐहिकफलेपि द्वैविध्यमाहुः **आद्य** इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथश्च सिध्येत् । अयमर्थः । यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति । यस्य पुनः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसंबन्धिमुख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैक्लव्यादिसहिता परमार्तिरूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । **अल्प** इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत् । तथाच माहात्म्यपूर्वककेवलदासभावयुक्तो भवतीत्यर्थः । अग्रे पूर्ववत् । एवमवान्तरफलद्वयं निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य । अधिकारः सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु वा । अत्र वैकुण्ठपदं लोकवेदप्रसिद्ध्यभिप्रायेण । वस्तुतस्तु ब्रह्मात्मके स्वधामनि । तथाच 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' इति श्रुतिनिरूपिते परमपदे मुख्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दानुभवयोग्यस्वरूपावाप्तिरूपः । **सिध्येदि**ति सर्वत्रानुषङ्गः । आदिपदात् यत्रैव साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसांनिध्यं तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति । यद्वा । **आद्य** इति । आदिपदेन अग्रिमफलाधिकरणकस्थित्यपेक्षया प्राथमिकं सद्योनुभूयमानं जन्मोच्यते । तत्सम्बन्धी यो मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकाभिलाषरूपः स सिध्यतीत्यर्थः । पाठान्तरे तु पूर्वार्थवत् । इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति । सायुज्यप्रापकं भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्रापकं तद्रससहिष्णुतारूपं चेति । अत्र साधनफलयोः सम्पत्तौ कालकर्मादयो नियामका भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाहुः **न कालोऽत्रे**ति । सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः । तेन भगवदिच्छाव्यतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इत्युक्तं भवति । तर्ह्यत्र स्वच्छंदचारित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासपूर्वकं सावधानतया स्थितिज्ञापनाय मध्ये अन्तरायोत्पत्तिमाहुः **उद्वेग** इति । तस्य विवरणं सेवायामित्यारभ्य भोगो वेत्यन्तम् । एतत्त्रितयमपि बाधकमस्ति । यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमित्याशयः । ननु उद्वेगप्रतिबन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्यत्वात् दैवागतत्वात् क्षुदादिनिवर्तकत्वाच्चाशक्यपरिहारास्ते कथं त्यक्तव्या इत्याशङ्कायां त्यागप्रकारमाहुरग्रे **बाधकानां परित्याग** इति । तट्टीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । सिद्धाश्चेत् त्यक्तुमशक्या एव । अतस्तत्साधकवस्तूनां त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं त्या-

ज्यात्याज्यभेदेन द्वैविध्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुस्वरूपमाहुः **अकर्तव्य**मिति । व्याकृतिः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यारभ्य विवेक इत्यन्ता । अर्थस्तु यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यावद्बुद्धिबलोदयं जीवैः दृष्टादृष्टोपायैः प्रयत्ने कृतेपि प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न सिध्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः । तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदा अन्या तदनन्तरं कृता या सेवा सा व्यर्था । यतः फलशून्या । तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदायं परिदृश्यमानो मल्लक्षणो वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्य ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन स्थेयम्, तत्र मयेयान् प्रयासः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्त इतिरूपखेदाभावाय हरिः सर्वं निजेच्छयैव करोति करिष्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्रासुरत्वमावेशजन्यं ज्ञेयम् । अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानाद्यनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं नोपदिशेयुः । तेनासुरत्वं आवेशिसहजभेदेन द्विविधं ज्ञेयम् । द्वितीयमग्रे वक्ष्यंति द्वितीयेत्यनेन । अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम्, अग्रे सर्वथा चिन्ता त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्यं विरुद्धवाक्यकथनेन वदद्व्याघातः प्रसज्येत । तथा च सर्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्योक्तसंकेतैर्भगवदीयद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथा कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं स्थेयमित्यर्थः । अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च विविच्य प्रकटमाहुः **भोगेप्येक**मित्यादि **तृतीये बाधकं गृह**मित्यन्तेन । तद्व्याख्यानं **भोगो द्विविध** इत्यारभ्य आग्रन्थपरिसमाप्ति । अर्थस्तु भोगप्रतिबन्धौ लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगवत्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधौ । तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्पणादिरूपः । स सर्वथा त्याज्यः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'स्वयमिन्द्रियकार्याणि', 'विषयाक्रान्तदेहाना'मित्यादिवाक्यैः । साधारणप्रतिबन्धस्तु त्रैवर्गिकायासासक्त्यादिरूपः, सोपि तथा । एतस्य भगवद्धर्मापेक्षयातिनिर्बलत्वेन सेवाद्यासक्तस्य वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति । तदुक्तं 'तावत्कर्माणि कुर्वीत' 'मत्कर्म कुर्वतां पूंसा'मित्यादिवाक्यैः । ननु तर्हि धर्मादिशास्त्रभयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत् । न । यतो **बुद्ध्ये**त्युक्तं टीकायाम् । लोकसंग्रहार्थकरणाभिप्रायेण । तदेव गीतायामुक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांस' इति । अन्यथा तत्तन्नियतकारणकमेव फलं स्यात्, नैतन्मार्गीयम् । अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमात्रस्य भगवदुपयोगे तदयोग्यत्वे च जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः । यतः स भोगः फलानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदङ्गतां प्राप्नोति । कायवाङ्मनःशोधकत्वात्, स्वधर्मत्वाच्च । तदुक्तं 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'त्यादिवाक्यैः । 'यत्करोषि यदश्नासि' 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथञ्चित् कर्तव्यताप्युक्ता । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः । नन्व-

निषिद्धसुखत्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः **सविघ्नेति** । अस्य टीका **सविघ्न**त्वादादिप्रतिबन्धेत्यन्ता । अर्थः सविघ्नत्वात् बह्वन्तरायवत्त्वात् तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं त्याज्य एवेत्यर्थः । तथाच साधारणभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसह्य फलाभावजनकौ । यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धकत्वात् । अथवा मतौ प्रतिबन्धकत्वेन संमतावित्यर्थः । तत्र तयोराद्यः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य एव । इतरोसाध्यत्वात् मर्यादामार्गेण स्थित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिभगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोपि याथातथ्येन न सिध्यतीति **ज्ञानस्थित्यभावे**त्याभासेनानूद्य तेषां कर्तव्यमाहुः **द्वितीये**ति । द्वितीये बाधके भगवत्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविषयिणी चिन्ता साधनान्वेषणं न कर्तव्यम् । यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने आहुः **संसारे**ति । तस्याविद्यकोऽहंममात्मकः संसार एव भवति, अग्रेपि तदनुसारेणैव फलम्, नान्यदपीत्यर्थः । नन्वन्त्यबाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिनैतत्कुतः इत्यत्राहुः **नत्वाद्य** इति । तट्टीका **आद्य** इति । आद्यो यः फलस्याभावो यस्मादिति फलाभावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत् । स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोस्ति तद्वशात्तत्र चित्तशुद्ध्यभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येपि भगवान् सर्वात्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिन्न्यूनाधिकं भवत्येव । अतस्तत्र भगवतोऽदातृत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्त्वग्रिमजन्मान्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निबन्धे 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायते । पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभि'रिति । तर्हि सद्यस्तस्य किं भवतीत्याकांक्षायामाहु**स्तदे**ति । तदा तनुवित्तजा सेवा आधिदैविकी न भवति । यस्यां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपानुभवः सर्वदा तत्सङ्गमार्थं परमार्तिश्च नियता तादृशी साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः । अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः **तृतीय** इति । तद्व्याकृतिर्भोगाभाव इति । गृहे त्यक्ते तदधीनत्वात् सोपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः । अथ अवश्येत्याद्यवशिष्टमूलव्याख्या श्रीमदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्व्याख्यायते । इयं सेवा सदा अवश्या जीवकृत्यसाध्येति भावनीया । अयमाशयोऽत्र । तस्याः कृतौ स्वस्य कर्तृत्वाभिमाने जाते कृताप्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निक्षिप्य तदिच्छयैव सर्वं सम्पद्यत इति निश्चित्य तत्परतया स्थेयमिति । तदुक्तं 'अशक्ये वा सुशक्ये वे'त्यादिवाक्यैः । एतदन्यप्रकारा भावना मनोभ्रमरूपा । यद्वा । इयं सेवा सदा अवश्या, जीवकृत्यसाध्या भाव्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः । एतस्मादन्यजीवसाध्यत्वविध्यधीनत्वज्ञानं मनसो भ्रमः । इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमापातत उक्तम् । एवं स्वरूपमुक्त्वा तस्या एतत्प्रकारेणैव ज्ञानं कर्तव्यतां चाज्ञापयंति **तदीयै**रिति । अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीय-

मानोप्यपिशब्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति । तथाचैवं ज्ञानपूर्णैरपि तन्मदुक्तमेव कार्यम्, नान्यदित्यर्थः । नन्वन्त्यमार्गद्वये यथोक्तकरणं युक्तं, लोकवेदानुसारित्वात्, न तु शुद्धपुष्टौ, लोकवेदातीतत्वात् । अतस्तत्र यथोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः **पुष्टाविति** । एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सूच्यते । तथा च पुष्टिमार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः । यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोत्कर्षः, तदेव च निर्वहति । तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्यथा । अतस्तादृशैस्तदुक्तकरणे सर्वथा विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोढ्वा स्थेयमिति, तन्न युक्तम्, यतस्तपोऽनशनदेहाभिघातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देवव्रतादेरिवास्यापि प्रतिज्ञापालनं भगवान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः **गुणेति** । गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्तमर्यादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वाभाविकं त्यक्त्वा मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं **मे मतिरिति** । पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम्, मदीयास्तु निर्गुणभावा इति तैर्मदुक्तमेव विधेयम् । तत्राज्ञानमन्यथाज्ञानं च वारयन्ति **कुसृष्टिरिति** । अत्र मदुक्तौ या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरूत्पद्येत स वै निश्चयेन भ्रम एव । श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्प्रमाणान्तरान्वेषणं तद्भ्रमरूपमेवेति दिक् ।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया । टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपद्मानुसारिणा ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटिप्पणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

प्रणम्य पुष्टिमार्गीयं ससूनुं वल्लभं प्रभुम् । सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः क्रियते मया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गीयदैवजीवानां मानसीसेवासिद्धावङ्गभूतं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं तदभावं च प्रतिपादयन्ति **सेवायां फलत्रयमिति** । मानसीसेवायामङ्गभूतं तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम् । **अलौकिकसामर्थ्यं** सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपमेकं फलम् । **सायुज्यं** सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभावानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्फूर्तिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं फलम् । **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** । यथा वैकुण्ठव्रजादिषु साक्षात् सेवोपयोगिदेहस्तथा देहो मानसीसेवायामधिकाररूपस्तृतीयं फलम् । एतत्फलत्रयमेव सार्धश्लोकेन प्रतिपादयन्ति **यादृशीति** । यादृक्प्रकारिका मानसी सेवा 'ता नाविद'न्नित्यादिवाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावङ्गभूतं येन विना यन्न संभवति तत्तदङ्गमेतादृशमलौकिक-

सामर्थ्यरूपं फलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजा-सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः ममानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवंरूपः स सिध्येत्, अत इदं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा सायुज्यं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयो-ग्यधिकाररूपदेहोऽङ्गभूतं फलमुच्यते । यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्, नान्यथा । तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामङ्गभूतत्वम् । अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः संपादको न भवति । यतः पुष्टिमार्गीयदैवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम् ।

एवं मानसीसेवायामङ्गभूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयमुप-पादयन्ति **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्** । तदेव विशदयन्ति **उद्वेग** इति । मानसी-सेवायां तु उद्वेगः बाधकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः बाधकं भवेत् । भोगो वा बाधकं भवेत् । एवं बाधकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तुशब्दोन्यव्यावृत्त्यर्थम् । **बाधकानां परित्याग** इति । बाधकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकि-कोऽलौकिकश्च । द्विविधेपि भोगे एकं लौकिकभोगरूपं बाधकं तथा त्याज्यम् । अपरं द्वितीयमलौकिकभोगस्वरूपं निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं भगवतैव निर्वाहात् । स अलौकिकभो-गस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपः । फलत्रयाणां मध्ये प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । अतो न त्यक्तुं योग्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायेन त्याज्यः । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदेवाहुः **अक-र्तव्यमिति** । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि । फलं नेति निश्चयः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रति-बन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि व्यर्था । अन्यफलदातॄणामपि देवानां भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा आसुरोयं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो दैवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रती-यमानोप्यासुर इति निर्धारः । दैवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात् । ननु यदा भक्ति-मार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **यथा वे**ति । वेत्यनादरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केन-चित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम् । विवेकस्वरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्, शोकाभावायेति विवेकः । यदा भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्थातव्यमिति विवेकरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः **सविघ्नोल्पो घातकः स्या**दिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भावविघातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः । बलाद्वेतौ सदा मतौ । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ सदाप्रतिबन्धकौ संमतावत-

स्त्याज्यौ । **द्वितीय** इति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्यसंभवे चिन्ता भवति । तदभावार्थमाहुः **द्वितीय** इति । ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या । संसारनिश्चयात् । सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धादयं जीव आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारात् सर्वथा चिन्ता त्याज्या । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य ज्ञापकमाहुः **नन्वाद्य** इति । नन्विति विरोधोक्तौ । दैवजीवे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्संबन्धिनी भवति । आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धादाद्यफलाभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वाभावे सति तत्र भगवतः फलदातृत्वं नास्ति । तदा तत्कृता सेवा नाधिदैविकी भगवत्संबन्धिनी न भवतीत्युक्तं भवति । तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात् । तृतीय इति । ननु तृतीये–भोगाभावे बाधकं गृहम् । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । **अवश्येयमिति** । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकाभावत्रयी अवश्या, न स्वशक्या । तथापि भाव्या विचारणीया । मम फलत्रयं भवतु, प्रतिबन्धकाभावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया । फलत्रयप्रतिबन्धकाभावत्रयाभ्यामन्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिबन्धकभावनं स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः । ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याशंकायामाहुः **तदीयैरिति** । पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं कार्यम् । एतद्भावने भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव । अतः पुष्टिमार्गीयाणामेतद्भावने शीघ्रं फलं भवत्यतस्तैरपि भावनं कार्यम् । ननु सत्त्वादिप्राकृतगुणकृतचित्तक्षोभे सति कथं भावनं कार्यं तत्राहुः **गुणक्षोभेपीति** । चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षोभेप्येतदेव फलप्रतिबन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम् । एतद्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः । एवंप्रकारिका मम बुद्धिः । **कुसृष्टिरिति** । अत्रैतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्यतीति कथं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराण्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरुत्पद्यते चेत्, निश्चयेन स वै भ्रमः । स्वान्तर्भ्रान्तिः । अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः ।

EDITORS' NOTE.

The Jalabheda and the Pancha Padya are respectively the Twelfth and the Thirteenth of the Sixteen Granthas of Shri Vallabhacharya. Jalabheda is based on the Mantra of Taitteriya Sanhita, given in the beginning. The object of the work is to give the characteristics of different sorts of preachers on religious subjects, to help the initiate in selecting his गुरु. Twenty different types are mentioned, on the analogy of twenty kinds of waters, mentioned in the Mantra. It is not a treatise on hydropathy as stated by Dr. Rajendralal Mitra in the collection of Bikaner mss.

On this work, only four Commentaries are available. The first is of Shri Kalianraiji, of which we had seven copies, one of which was in the handwriting of Shri Hariraiji-the author's illustrious son, written in samvat 1729. Our text is

chiefly based on this mss; other mss. were consulted in cases of doubt. The second commentary is of Shri Purushottamaji, of which we had five copies. Of these, the one belonging to Shastri Bhainarayana of Cambay was the best. The third commentary is of Shri Gokulnathji, the illustrious grandson of Shri Vallabhacharya. It was accidentally found in a heap of kutchra at Kankroli, when one of us Mr. Telivala had gone on a tour to inspect the Libraries of the Sampradaya. It appears that this has been written with a view to reconcile the conflicting interprotations of the word Agni occurring in this work. According to Shri Kalianraiji, it refers to Shri Vallabhacharya, while according to the fourth commentary published here, it refers to रुद्र. Shri Hariraiji wrote a स्वतंत्रलेख on it supporting the first view, which is printed here as an appendix. It was necessary to reconcile both the opinions, and Shri Gokulnathaji, the surviving eldest member of the family wrote this commentary in which he explained that if the word अग्नि here was taken to mean the आचार्य, it only referred to his मर्यादामार्गोपदेष्टृस्वरूप, but if the word अग्नि is confined to पुष्टिमार्गोपदेष्टा, as described in सर्वोत्तमस्तोत्र and श्रीवल्लभाष्टक, he is not referred to here at all, and अग्नि should be taken in the sense of रुद्र.

Though we first thought that the fourth commentary was written by Shri Balkrishnaji, a grandson of Shri Vallabhacharya, we are now of opinion that it is probably written by Shri Dwarkeshji, the eldest son of Shri Balakrishnaji, because the मंगलाचरणश्लोक here is very similar to the one in the teeka on भक्तिवर्धिनी known to be written by him. We have quoted it here in the Gujarati Introduction. We had only one mss. of this teeka which was extremely unsatisfactory, and we have tried to correct it as far as we could.

The परिशिष्टs are written–one by Shri Hariraiji and the other by Shreenatha Bhatta. Both of them are independent teekas on the verse of Jalabheda–पूर्णा भगवदीयाः &c. Shreenatha Bhatta mentions four मुख्यसंप्रदायs, *viz;* those of शेष-रामानुज, व्यास-विष्णुस्वामी, अग्नि-वल्लभ and मारुत-मध्व. He also says that वल्लभाचार्य resuscitated the उत्सन्नसम्प्रदाय of विष्णुस्वामी by resorting to 'विलक्षणप्रकार,' and he thus establishes वल्लभाचार्य's connection with व्यास. The विलक्षणप्रकार consists in this–that the भक्ति of व्यास and विष्णुस्वामी was राजसोपचारा while that of श्रीवल्लभाचार्य is निर्गुणा. The उपसम्प्रदायs are those of जड-रामानन्द (रामानुज), नारद-कृष्णचैतन्य (मध्व), मैत्र-सनातनमैत्र (व्यास, विष्णुस्वामी, वल्लभ) or हरिव्यास (निम्बार्क).

This interpretation, though ingenious, is not very satisfactory to us, and we don't think our Âchârya had this in his mind while writing the श्लोक. The sentence quoted by Shreenatha Bhatta himself from तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी goes against his view. There the आचार्य enumerates the सम्प्रदायs as follows:—रामानुज सात्विक, विष्णुस्वामी तामस, मध्व राजस and his निर्गुण; all these being the modern representatives of the four भक्तिमार्गs mentioned by श्रीकपिलदेव. The आचार्य in no way connects himself or his सम्प्रदाय with विष्णुस्वामी either here or elsewhere in his writings.

Next follow three commentaries on Sevafala, which were discovered during Mr. Telivala's tour. Two were found in Shri Mathureshaji's Library at Kotah and the third one at Kankroli.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna.

BOMBAY,
16th, October, 1919.

MULACHANDRA T. TELIVALA.
DHIRAJLAL V. SANKALIA.

I have been prevented by pressure o.
date your interesting essay on the relation
I have now studied your work and find
value as a contribution to the discussion of th
you attain is plausible. More cannot be said in
which preclude any certainty, but the presentatio.
hitherto insufficiently developed was a task well wo
gratulate you on the success of your efforts.

A. Berriedale Keith. M. .

Professor o

University of E

We have received the *Sujna Gokulji zala Vedanta Prize* on the problem "How far Sankaracharya truly represents the view of the Brahmasutras." The author, Mr. *Mulchandra Tulsidas Tel* this difficult theme with much skill and erudition, and draws the that Sankara's conception of the Absolute differs widely from that of the sutras which he purports to expound, and that in other fundamental poi. doctrine also their discrepancies are equally great. He even throws out interesting suggestion that Sankara may have drawn his doctrine from very ancie sources, and attempted to read it forcibly into the Sutras of Badarayana, thereby seriously misinterpreting them. This view is in general agreement with the S'uddhadvaita of Vallabha, and it must be admitted that there is a good deal to be said in its favour.

Luzac's Oriental List and Book Review. January-June, 1919. Vol. XXX Page 7.

शोधपत्रम् ।

पत्रम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	१८	अवद्याम्यः	अवस्थाम्यः
१६	१९	संज्ञिताः	संज्ञिकाः
१६	२७	प्रदशे	अवटे
१६	२७	अवद्याः	अवस्थाः
१६	२७	उद्यन्ते	उभ्यन्ते

ITTA Ishvaravi

मुद्रितपुस्तकानि ।

	…विवरणसमेतम् ।	रु. १– ०–०
	…द्विवरणसमेतम् ।	रु. १– ०–०
	…यः । अष्टविवरणसमेतः ।	रु. १– ०–०
	…रुषोत्तमनामसहस्रम् । नामचन्द्रिकायुतम् ।	रु. ०–१०–०
	तत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम् । जयगोपालभट्टकृतम् ।	रु. १– ०–०
६	शृंगाररसमण्डनम् । श्रीविट्ठलेश्वरप्रकटितम् ।	रु. २– ८–०
७	श्रीमधुराष्टकम् । पड्विवरणसमेतम् ।	अमूल्यम् ।
८	प्रेमामृतम् श्रीविट्ठलेश्वरकृतविवृतिसमेतम् । परिवृढाष्टकम् श्रीगोपेश्वरकृतटीकासमेतम् ।	रु. ०–८–०
9	Discuss how far S'aṅkaracharya truly represents the view of the author of the Brahma-Sûtras. (Zala Vedanta prize Essay).	Rs. 1 0 0

प्रापणस्थानम्—

१. रणछोडदास डाह्याभाई,
पंडित गट्टूलालनी संस्था, केथिड्रल स्ट्रीट, भूलेश्वर,
मुंबई.

२. बलदेवदास कृष्णदास कीर्तनीया,
सुरतवाला श्रीगिरिधरलालजीनुं मंदिर,
त्रीजो भोईवाडो–भूलेश्वर–मुंबई.

३. मोहनलाल लल्लुभाई शाह,
मंत्री, पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय, नडीयाद.

४. लल्लुभाई छगनलाल देसाई,
चंगपोळ, खत्रीपोळ, अमदावाद.

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya-sagar Press,
23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Mulachandra Tulsidas Telivala B. A., L L. B.,
Vakil, High Court. C. P. Tank Road, Girgaon, Bombay.